विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्था: पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्था पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२७ | खण्ड ११, अंक १ | अप्रैल-जून, १९७०

विषय-सूची

इस अंक के लेखक, कलाकार (अकारादि क्रम से)

अगरचंद नाहटा, लेखक, व्यापारी, बीकानेर ।

गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', साहित्यकार, कवि, झाँसी ।

धीरेन्द्रकृष्ण देव वर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष, कलाभवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन ।

भगवान सहाय पचौरी, अध्यापक, मथुरा ।

मदनलाल वर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी ईवनिंग कालेज, रोहतक।

मोहनलाल वाजपेयी, अध्यापक, हिन्दीभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

रणजीत कुमार साहा, अनुसंधाता, हिन्दीभवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन ।

राधाकृष्ण सहाय, अध्यापक, हिन्दी स्नातकोत्तर विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय ।

राधेश्याम द्विवेदी, अभिभावक, करेरा, शिवपुरी, मध्यप्रदेश ।

राममूर्ति त्रिपाठी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दीभवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन ।

विनोद बिहारी मुखर्जी, अध्यापक, कलाभवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन ।

विश्वनाथ भट्टाचार्य, अध्यापक, संस्कृत विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

सुनीतिकुमार पाठक, अध्यापक, भारतीय तिब्बती विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन ।

सूर्यकुमार योगी, रिसर्च फेलो, हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन ।



स्नान-रत

विनोदविहारी मुखोपाध्याय

विश्वभारती पत्रिका

वैशाख-ज्येष्ठ २०२७ | खण्ड ११, अंक १ | अप्रेल-जून १९७०

निभृत आश्रम

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सन्ध्याय एकेला बसि विजन भवने
अनुपम ज्योतिर्मयी माधुरी मूरति
स्थापना करिबो यत्ने हृदय आसने
प्रेमेर प्रदीप लये करिब आरति।

राखिया दुयार रुधि आपनार मने
ताहार आलोके रब आपन छायाय,
पाछे केह कुतूहले कौतुकनयने
हृदय दुयारे एसे देखे हेसे याय।

भ्रमर येमन थाके कमल शयने,
सौरभ सदने, कारो पथ नाहि चाय,
पदशब्द नाहि गणे, कथा नाहि शोने
तेमनि हइबो मग्न पवित्र मायाय।

लोकालय-माझे थाकि रबो तपोवने
एकेला थेकेओ तबु रब साथि-सने।

(ऊपर दी हुई कविता की हिन्दी छाया)

मैं एकान्त भवन की सान्ध्य वेला में अकेला बैठकर अपने हृदय रूपी आसन पर निरुपम आलोकमयी माधुरी मूर्ति (ब्रह्म) की सयत्न प्रतिष्ठा करूंगा और प्रेम का दीपक लेकर उसकी आरती करूंगा।

बादमें कोई हृदय रूपी द्वार से प्रवेशकर, मेरे इस प्रेम-भक्ति-मार्ग को देखकर मात्र कुतूहल और परिहास वश, हँसी न उड़ाये , इसीलिये इसे गोपनीय रखने हेतु अपने मन रूपी द्वार को बन्द करके उस माधुरी मूर्ति के आलोक में रहूँगा अर्थात् अपने ही ढंग से आराधना करूंगा ।

जिस प्रकार भ्रमर किसी भी अन्य मार्ग का अनुसरण नहीं करता, जगत के क्रिया-व्यापारों को नहीं जानता और न किसी की बात सुनता है और वह अपने इष्ट अम्बुज-रस-सौरभ में सर्वांग डूब जाता है , उसी प्रकार मैं भी उस पवित्र स्नेह (ब्रह्म) में अनुरक्त हो जाऊँगा ।

संसार के बीचमें ही मैं तपोवन के समान रहता हूँ । इस प्रकार लौकिक दृष्टि में अकेला हूं तब भी अकेला नहीं हूँ । क्योंकि मैं उसके (ब्रह्म) साथ तो रहूँगा ही ।

—सूर्यकुमार योगी

आत्मकथा†

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

पहला अध्याय

दादी१ मुझे बहुत प्यार करती थीं। बचपन में मैं भी उन्हें छोड़कर और किसी को जानता ही नहीं था। मेरा सोना, बैठना, भोजन करना सब कुछ उन्हीं के साथ होता था। वे कालीघाट जातीं तो मैं भी उनके साथ जाता। वे मुझे छोड़कर जब जगन्नाथक्षेत्र और वृन्दावन गई थीं तब मैं बहुत ही रोया था।

धर्म में उनकी बड़ी निष्ठा थी। वे प्रतिदिन बड़े तड़के गंगास्नान करती थीं और अपने हाथों शालिग्रामजी के लिए माला गूंथती थीं। कभी संकल्प के साथ उदयास्त साधन करतीं; सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य को अर्घ्य देतीं। उस समय छत पर मैं भी धूप में उनके संग रहता और उस सूर्य-अर्घ्य मन्त्र को सुन सुनकर मुझे अभ्यास हो गया था—

जवाकुसुमसङ्काशं काश्यपेयं महाद्युतिम्।
ध्वान्तारिं सर्व्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्॥

(अर्थात्—जवाकुसुम के समान काश्यपेय महाद्युतिमान् तिमिरनाशक, समस्त पापों का नाश करनेवाले दिवाकर को नमस्कार है।)

दादी कभी-कभो हरिवासर करतीं, सारी रात कथा और कीर्तन होता, उस शोर में हमलोगों को रात भर नींद नहीं आती थी।

गृहस्थी की सारी देखभाल वे करतीं और अपने हाथ से बहुत से काम करती थीं। उनकी कार्यपटुता और शासन द्वारा घर के काम-काज सुचारु रूप से चलते थे। सब के भोजन के

---

† महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५ ई०) वर्तमान भारत के गौरवपुरुषों में से हैं। उनकी 'आत्मकथा' एक अपूर्व कृति है। उनके जीवन के प्रथम इकतालीस वर्षों का परिचय उसमें प्राप्त होता है। वर्तमान पुनर्जागरण के अध्ययन के लिये कृति महत्त्वपूर्ण है। हम क्रमशः उसका अनुवाद पत्रिका में देंगे।—संपादक

१. अलकासुन्दरी देवी देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पिता द्वारकानाथ ठाकुर की माता नहीं, ताई थीं, निस्सन्तान होने के कारण उन्होंने देवर के चार वर्षीय पुत्र द्वारकानाथ को गोद लिया था।

बाद वे स्वपाक भोजन करतीं। मैं भी उनके हविष्यान्न का हिस्सेदार था। उनका वह प्रसाद मुझे जैसा स्वादिष्ट लगता, वैसा अच्छा अपना भोजन नहीं लगता था।

उनकी देह जैसी सुन्दर थी, कार्य में भी वे वैसी ही पटु थीं और धर्म में भी उनकी वैसी ही आस्था थी। पर माँ-गोसाँइयों[२] का निरन्तर आना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उनके धर्म में अन्धविश्वास के साथ थोड़ी बहुत स्वाधीनता भी थी।

मैं उनके साथ अपने पुराने घर में 'गोपीनाथजी' के दर्शनार्थ आया करता। उन्हें छोड़कर बाहर जाना मुझे अच्छा नहीं लगता, उनकी गोद में बैठकर गवाक्ष से सब कुछ शान्त भाव से देखा करता था। मेरी दादी अब रही नहीं। किन्तु न जाने कितने दिनों के बाद, कितनी खोजों के बाद, मैंने अब दादी की दादी को पा लिया है और उनकी गोद में बैठकर जगत की लीला देख रहा हूँ।

मृत्यु से कुछ दिन पूर्व दादी ने मुझसे कहा : 'मेरा जो कुछ है वह मैं और किसी को नहीं दूंगी, तुम्हें ही दूँगी।" बाद में उन्होंने अपने बक्से की चाभी मुझे दी थी। उनके बक्से को खोलकर मुझे कुछ रुपए और मोहरें मिलीं। लोगों से कहा "मुझे लाई-लावा (गुड़ में पगा हुआ)[३] मिला है।

१७५७ शक संवत्[४] में जब दादी मरणासन्न हुईं, उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद इलाके में पर्यटन के लिए गए हुए थे। वैद्य ने आकर बताया, "रोगिणी को अब घर में नहीं रखा जा सकता है।" अतः दादी को गंगा-किनारे ले जाने के लिए घर के बाहर लाया गया। पर दादी और अधिक जीना चाहती थीं, गंगा पर जाने की उनकी इच्छा नहीं थी। वे बोलीं, "यदि द्वारकानाथ घर पर होता, तब तुम लोग मुझे कैसे भी नहीं ले जा सकते थे।" पर लोगों ने एक न सुनी। उन्हें- लेकर गंगा-तट पर चले। तब उन्होंने कहा, "तुम लोग जैसे मेरी बात न मानकर मुझे गंगा पर लिए जा रहे हो, वैसे मैं भी तुम लोगों को खूब कष्ट दूँगी, मैं जल्दी मरूँगी नहीं।" गंगा के किनारे फूस के छप्पर के नीचे उन्हें

---

२. दीक्षागुरु की पत्नी जब शिष्यों के घर आतीं अक्सर अपनी कन्या तथा पुत्र-वधुओं को भी साथ लातीं, उनकी आवभगत और उचित अनुचित मांगों से घर के लोग परेशान हो उठते। कदाचित् इसी कारण उन्हें अच्छा न लगता हो।

३. देवेन्द्रनाथ ने सफेद रुपए को लाई और सुनहली मुहरों को गुड़ में पगे लावे की संज्ञा दी थी।

४. बंगाल में प्रचलित।

रखा गया। वहाँ वे तीन दिन जीवित रहीं। उस समय गंगा किनारे उनके साथ मैं निरन्तर रहा।

दादी की मृत्यु को पहली रात उस छप्पर के पास ही श्मशान घाट पर एक चटाई की आसनी पर बैठा हुआ था। वह पूर्णमासी की रात थी, चन्द्रोदय हुआ था और पास ही था श्मशान। उस समय दादी के पास नाम संकीर्तन हो रहा था—'एमन दिन कि हवे, हरिनाम हरिनाम बलिया प्राण याबे' (अर्थात्—ऐसा दिन क्या होगा (जब) हरिनाम लेकर (मेरे) प्राण सिधारेंगे।) वायु के साथ ही धीमी ध्वनि मेरे कानों तक पहुँच रही थी। इस अवसर पर हठात् मेरे मन में एक आश्चर्यजनित उदास भाव उदित हुआ। मैं जैसे पहले का व्यक्ति नहीं रहा। ऐश्वर्य के प्रति वैराग्य (भाव) जगा। जिस चटाई की आसनी पर बैठा था वही मेरे योग्य प्रतीत हुई, कालीन-गलीचा हेय जान पड़े, मन में अभूतपूर्व आनन्द (भाव) का उद्रेक हुआ। मेरी आयु उस समय अट्ठारह वर्ष की थी।५

---

५ सन् ईसवी १८३८ में अलकासुन्दरी देवी की मृत्यु हुई। उस समय देवेन्द्रनाथ की आयु इक्कीस वर्ष की थी। कदाचित् यादवाश्त के आधार पर लिखने के कारण यह भूल हो गई हो। 'समाचारदर्पण' में यह मृत्यु-संवाद उल्लेखित है।

अनु०—कृ० तो०

कामायनी का अंगीरस

रामभूर्ति त्रिपाठी

(क) अंगीरस : स्थायी का स्वरूप :—

किसी भी कृति के अंगीरस के विषय में विचार करने के लिये यह शोध आवश्यक है कि उस कृति में कौन सा भाव 'स्थायी' है। कारण, स्थायी भाव ही पुष्ट होकर अंगीरस बनता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने स्थायी भाव का स्वरूप बताते हुये कहा है कि जो भाव आद्योपांत प्रबन्ध में व्याप्त रहे वही उस प्रबन्ध का स्थायी भाव होता है। क्या 'कामायनी' में ऐसा कोई भाव है जो आदि से अंत तक व्याप्त है ?

(ख) प्रसाद की रसानुरोधी दृष्टि

प्रसाद जी कहते है कि "आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं तब भी उनके तिथिक्रम मात्र से संतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उनके मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति ? हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव के रूप में परिणत हो जाती हैं, किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।" इसलिये 'प्रसाद' जी ने स्वीकार किया है इतिहास के मनन में मुनि को श्रेयसत्य अपनी चारुता में सहसा गृहीत हो जाता है मन की यही दशा असाधारण दशा है—आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है—काव्य इसी मनोदशा का समुच्छलन किसी ऐसी ही साक्षात्कृति की परिणति है—किसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा है। निष्कर्ष यह है कि जब प्रस्तुत कृति का मूल आत्मा किसी सत्य का रसात्मक साक्षात्कार है तो काव्य में वर्णित घटना या रूप विधान के माध्यम से उस रसात्मक सत्य की शोध-अंगीरस का अनुसधान अनवस्थित का उत्खनन नहीं है।

(ग) रस विवेचन की साधारता :—

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हुईं—एक तो यह कि 'कामायनी' में अंगीरस का अनुसंधान करना युक्तिसंगत है और दूसरे तदर्थ स्थायी-भाव का भी। अंगीरस का निरूपण स्थायी-भाव के निर्धारण के अनन्तर ही सम्भव है, अतः पहले यही स्पष्ट करना

चाहिये कि 'कामायनी' का नायक मनु किस स्थायी-भाव का आश्रय है? 'कामायनी' की अंतर्योजना का विचार इसी स्थायी भाव की अन्विति का ही विचार है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का विचार है—"यदि हम इस विशद् काव्य की अंतर्योजना पर ध्यान दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूंढें, श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग-अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना (तथा) अभिव्यंजना की मनोरम पद्धति आती है।" अर्थात जिस भावसूत्र, विवेकसूत्र और कथासूत्र को आद्योपांत सुहृढ़ता के साथ प्रबंधोचित ढंग से नियोजित करना चाहिए था, वह कामायनी में कतिपय तद्विरोधी छायावादी प्रवृत्तियों अथवा व्यक्तिगत रुचियों के कारण तटस्थ ढंग से हो न सका। शुक्ल जी ने विरोधी प्रवृत्तियों के अंतर्गत 'क' मधुचर्या का अतिरेक 'ख' रहस्य की प्रवृत्ति 'ग' तथा कतिपय वृत्तियों की आभ्यंतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियों को बड़ी मार्मिकता से परखकर उनके स्वरूपों की नराकार उद्भावना आदि को बताया भी है। इसके प्रबन्धत्व के समर्थक आलोचकों ने छायावाद की आभ्यंतरिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए वस्तुमुखी प्रबन्ध धारा की तुलना में कतिपय छूटें दी हैं। इसीलिये प्रबन्ध के परम्परागत बहिरंग विधानों की उपेक्षा कर कामायनी के प्रबन्धत्व पर विचार करते हुये किसी ने केवल 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' पर अपनी दृष्टि केंद्रित की है तो किसी ने 'औदात्त्य' पर। निष्कर्ष यह कि शुक्ल जी की आँखों में प्रबंध के जो प्रतिमान थे वे शतकों प्राचीन महाकाव्यों के आधार पर बुने हुये थे—अत. उन आँखों को 'कामायनी' का अंतर्नियोजन शिथिल दिखाई पड़े तो उसमें कोई विवाद की बात नहीं है। पर "स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया" के अनुसार कामायनी के प्रबन्धत्व का अपनी सीमाओं में ही सही, विचार किया जा सकता है। सीमाएँ तो सब की हैं—उससे परे रहकर तो विचार का कोई विषय भी नहीं बन सकता।

(घ) कथासूत्र, विचारसूत्र और भावसूत्र की अन्विति :—

'कामायनी' के कथासूत्र का विस्तृत आख्यान तो अपने इतिहास में शुक्ल जी ने भी किया है। जहां तक विवेक सूत्र का संबंध है 'रहस्य' की जिज्ञासा 'चिन्ता' समाप्त होते ही 'वितर्क' के रूप में—

"कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज"—(आशा)

आरम्भ हो जाती है और यत्र-तत्र पुनः पुनः सिर उठाती अपने बाधकों पर विजय पाती श्रद्धा के सहारे वह 'आनंद' में समाहित हो जाती है। उसका सविस्तार उभार यहाँ अनावश्यक

है। यहाँ सर्वाधिक आवश्यक है भावान्विति का विश्लेषण-उस स्थायी भाव का विश्लेषण जो आद्योपांत इस कृति में अनुस्यूत है। अंगीरस का विवेचन उसी की अपेक्षा रखता है।

'चिंता' की पृष्ठभूमि पर 'मनु' के अंतर्जगत में एक तरफ शान्तरस (जिसे आगे चलकर अंगीरस के रूप में विवेचित किया जायगा) के अनुरूप "कौन? द्वारा 'वितर्क'मयी जिज्ञासा जन्म लेती है और वे सोचने लगते हैं कि वह कौन तत्त्व है जिसके शासन में विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत, चंचल पवमान और वरुण आदि-अम्लान ढंग से निरन्तर गतिशील हैं? वह किसका भ्रूभंग था जिससे महा प्रलय में ये सभी विकल और निर्बल दिखाई पड़ रहे थे? इस महानील परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिष्मान ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका अनुसंधान कर रहें हैं, तमाम तृण और वीरुध किसके रस से सिक्त होकर छिपते निकलते रहते हैं? अंत में उन्हें ऐसा कुछ भान होता है कि है कोई इन सब दृश्यमान प्रपंच का नियामक विराट् तत्त्व, जिसकी सत्ता सभी सिर झुकाकर स्वीकार कर रहें हैं, सागर का भी गान कुछ ऐसा ही सूचित कर रहा है: वह अनंत रमणीय है, उसके इदमित्थ निरूपण का भार विचार सह नहीं पाता। दूसरी ओर 'चिन्ता' के ही सदर्भ में अतीत वैभव और उसके निर्मम ध्वंस की 'स्मृति' उसे जीवन और जगत् की ओर से 'विराग' पैदा कर देती है। वह विराग इतना उदग्र हो जाता है कि एक तरफ महाप्रलय के उतर जाने पर प्रकृति का हँसता हुआ रूप सामने प्रस्तुत होता है और दूसरी ओर अवचेतन की अनादि वासना भी बहिर्मुख होने के लिये गुनगुनाने लगती है— तथापि मृत्यु 'ध्वंस' वैभव की नश्वरता तथा प्रकृति की तमाम शक्तियों के दौर्बल्य के गहरे सस्कार इस भीतरी और बाहरी उल्लास का स्वागत नहीं करने देते। मनु को स्वत 'विस्मय' होता है।

"ऐसे अतुल अनंत विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग?

लेकिन इस निमित्तज वैराग्य की तह में कुछ रहस्यमय तत्त्व है जिसकी चाह तो है, कुछ कुछ स्मृति भी है। उस तत्त्व में मन सुख से सोता था लेकिन मनु को स्पष्ट नहीं है कि वह क्या है? जो कुछ उन्हें उस समय स्पष्ट था वह क्या है? जो कुछ उन्हें उस समय स्पष्ट था वह यह कि कहीं कुछ अच्छा नहीं लग रहा था इसलिये 'प्रवृत्ति' और 'भोग' से हटकर मनु 'तप' और 'निवृत्ति' की ओर बढ़ने लगा था।

(ङ) शांत या शम का अंकुरण अथवा निमित्तज वैराग्य:—

इस प्रकार मनु के मन की ऊपरी सतह पर 'वैराग्य' उमड़ रहा था, संसार में कहीं— कुछ

आकर्षक नहीं लग रहा था और दूसरी ओर विश्व के मूल नियन्ता की जिज्ञासा भी व्याकुल कर रही थी वह अविवेच्य अभिलाषा भी मथ रही थी जो किसी रमणीयतत्त्व में मन को लीन कर देना चाहती थी। इस तरह की आरंभिक भूमिका से यह स्पष्ट है कि मनु जैसे आश्रम में शांत के अनुरूप वृत्तियां अंकुरित हो रही थीं।

(च) शांत का शास्त्र सम्मत स्वरूप :—

प्रश्न उठ सकता है कि 'शान्त' से इन वृत्तियों का सम्बन्ध क्या है? 'शान्त' का स्वरूप क्या है—उसका स्थायी भाव क्या है, वह स्थायी भाव अभावात्मक है या भावात्मक? वास्तव में 'शांत' के स्थायी भाव के रूप में कहीं 'निर्वेद' का नाम लिया गया है और उसका अभावात्मक स्वरूप निर्धारित किया गया है और कहीं 'शम' कहकर उसकी 'भावात्मक' व्याख्या भी की गई है। कुछ लोग 'शान्त' का अस्तित्व ही नहीं मानते और कुछ लोग श्रव्यकाव्य में ही नहीं, यथा कथंचित दृश्यकाव्य तक में उसे स्थापित करते हैं। अभिनवगुप्त के मत के अनुसार 'शान्त' का स्थायी भाव 'निर्वेद' या 'वैराग्य' नहीं है, जिसे विषय-वैमुख्य कहा जाता है और वह भी यदि "नित्यानित्यवस्तु विचार-जन्मा न हो, तब तो 'शान्त' के सदर्भ में किसी भी काम का नहीं है। कारण, 'विषय वैराग्य' या 'विषयवैमुख्य क्षणिक भी होता है और सुदृढ़ भी। सुदृढ़ वैमुख्य ही 'शान्त' के संदर्भ में अपेक्षित है। यह विषय वैमुख्यगतदार्ढ्य नित्यनित्यवस्तु विवेक प्रसूत होता है, गृह कलह, आपत्ति एव ईर्ष्या आदि क्षणस्थायी निमित्तों से प्रसूत होकर नहीं। निष्कर्ष यह कि 'शान्त के सदर्भ में सुदृढ़ विषय-वैमुख्य उपयोगी तो हो सकता है, पर अभावात्मक होने के कारण उसका स्वरूप नहीं हो सकता, कारण, शान्तरस, 'सुखास्वाद' है जो भावात्मक है और आध्यात्मिक धरातल पर वह आनंदमय है, प्रस्तुत काव्य का पर्यवसान और मनु का गंतव्य भी वही है। इसीलिये अभिनव गुप्त ने 'शान्त' का स्थायी भाव 'शम' माना है और उसे 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' समस्त प्रकार की तृष्णाओं का क्षय अर्थात् उनसे निवृत्ति (चित्तवृत्तिविशेष) ही अपनी सुखात्मकता में शान्त का स्थायी भाव शम है। तत्त्वत विचार किया जाय तो अन्य रसों की भाँति शान्त की साधनावस्था का ही विचार शान्त सबंधी विचार है, पार्यन्तिक-स्थिति तो अनिर्वचनीय है। इस प्रकार अभिनव ने 'शान्त' के स्थायी भाव 'शम' को न केवल भावात्मक ही कहा, प्रत्युत सुखात्मक भी। अंततः तो अभिनव ने 'शम' को आत्मरूप मानकर ही उसे 'शांत' का स्थायी भाव कहा है। इस प्रकार वे 'शम' को समस्त

स्थायियों का स्थायी मानते हैं। 'प्रसाद' जी की भी शांतरस संबंधी धारणा आगमिक शैव अभिनव के अनुरूप ही संभव है फलतः उसी दृष्टि से विचार संगत होगा।

(छ) निमित्तज वैराग्य की संचारिता :—

ऊपर कहा जा चुका है कि 'चिन्ता' और 'आशा' के सन्दर्भ में मनु-मानस में जो वितर्क, विषयवैमुख्य या वैराग्य, जिज्ञासा और अविवेच्य आकांक्षा उदित हो रहे हैं वे सब 'शान्त' के ही अंकुरण हैं। वास्तव में 'अनात्म'-या 'इद' में 'आत्म' या 'अहबुद्धि' अपूर्ण अहता का बोध है। जब यह असीम अमोघशक्ति 'आणवमल' से स्वातंत्र्यवश मुक्त हो जाती है—तब सामरस्य भंग हो जाता है और मात्रा, कला, काल, विद्या, नियति तथा राग-जैसे कंचुकों में ससीम हो जाती है। मनु इसी धरातल का जीव है इसलिये 'अनात्मा' में आत्मबोध या रागबोध होने के कारण रागाश्रय देव-सृष्टि के ध्वंस से 'उलटीमती' के अनुसार "आनंदोच्छलिताशक्तिः" के प्रसारमय 'विश्व' से उसे वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार यह वैराग्य एक तो उलटी मति का व्यर्थ बोध है, दूसरे आपत्ति-जन्य है अतः उसमें दृढ़ता नहीं है, परिणाम स्वरूप उसकी जगी हुई अनादिवासना कभी-कभी उस पर हावी भी हो जाती है। इसलिये यह 'वैराग्य' एक संचारी भाव के रूप में ही हो सकता है, हाँ, मूलतत्त्व की जिज्ञासा, 'पूर्णकाम' होने की अनजानी चाह, अवश्य ही 'शांत' की सामग्री में परिगणनीय है। 'पूर्णकामना' या 'पूर्णताबोध' अपूर्णताबोध का विरोधी है। अपूर्णताबोध तभी तक है जबतक अभावबोध है और अभावबोध किसी भी प्रकार की तृष्णा के रहते है। सभव है, इसीलिये अभिनव ने कहा है समस्ततृष्णाक्षय से संपाद्य सुख ही शम है—वही पूर्णताबोध है, वही रस्यमान होकर 'शान्त' रूप में आस्वाद्य है। इसलिये उक्त जिज्ञासा और चाह आदि सभी उस स्थिति की ओर उन्मुख होने में विभावात्मा निमित्त कहे जा सकते हैं।

(ज) रागमार्ग और विराग = विरोधाभास और समन्वय —

वास्तव में विचार किया जाय तो उपर्युक्त 'वैराग्य' जो 'चिन्ता' और 'आशा' से व्यज्यमान है श्रद्धा द्वारा निरस्त कर दिया जाता है, अतः वह 'प्रसाद' प्रतिपाद्य 'शान्त' में उपादेय न होने से संचारी होते हुये भी 'साक्षात् अंग' नहीं है, उसका उपयोग रहस्य विषयक जिज्ञासा को बनाये रखने में परम्परया ही हो सकती है। 'श्रद्धा' ने 'वैराग्य' के विपरीत 'रागमार्ग' का उपदेश दिया है और निवृत्ति की जगह 'प्रवृत्ति' का मार्ग ग्रहण कराना चाहा है उसने कहा है कि यह विश्व चिति का विराट् मंगलमय वपु है इससे विरक्ति क्यों! संसार की दुःखमय

नीली तरंगों से जो फिसलेगा उसे उसी से सुखमणियाँ मिलने की राह बंद हो जायगी। जो विषाक्त जान पड़ा है उसे अल्प विस्तार द्वारा त्याज्य करना है, अतः उससे विरक्त होने को वह मना करती है। अभिप्राय यह कि 'विराग' की जगह 'रागमार्ग' का उपदेश देनेवाली श्रद्धा के वक्तव्य की उपयोगिता 'शांत' के संदर्भ में क्या है? दूसरा प्रश्न यह भी है कि आगे चलकर यह निर्वेद 'आनन्द' की ओर बढ़ने में उपयोगी हुआ है इसलिये एकत्र वैराग्य का निषेध, अपरत्र 'निर्वेद' की उपादेयता, अन्यत्र 'रागमार्ग' का उपदेश और सब का 'शान्त' में विनियोग किस प्रकार सम्भव है? मनु के जीवन में राग और वैराग्य के हेय और उपादेय दोनों ही रूप आये हैं। 'चिन्ता' और 'आशा' में व्यक्त 'वैराग्य' की हेयता का उपदेश तो श्रद्धा ने स्पष्ट ही दिया है और आत्मविस्तार के लिये राग-मार्ग का उपदेश दिया है। 'काम' सर्ग में काम ने मनु को बताया कि 'हृदय के सुन्दर सत्य' की प्राप्ति के लिये, 'तपस्वी' के आत्मविस्तार के लिये यह आवश्यक है कि वह श्रद्धा को पाने योग्य बने'। अर्थात् श्रद्धा ने जिस रागमार्ग का उपदेश दिया था, मानो व्यक्ति केंद्रित, आसुरभाव समन्वित सुरसृष्टि का अवशेष मनु उतना योग्य नहीं था। इसलिये यह रागमार्ग को अपना कर भी श्रद्धा निर्दिष्ट रागमार्गी न हो सका, श्रद्धा को पाकर भी अयोग्य होने के कारण उसे पा न सका। इसलिये उसके अंतिम गन्तव्य और 'स्थायी' के विरोधी रूप में उक्त संकीर्णदृष्टि का राग, वैसा ही वैराग्य अन्य आसुर भाव व्यक्ति केंद्रण को ईर्ष्या, विषय-अधिकार की भावना, बौद्धिक व्यभिचार एवं तज्जन्य क्लेशकर परिणतियों का उल्लेख 'निर्वेद' से पूर्व तक के मनु-जीवन में उपलब्ध होते हैं। यह सारी सामग्री 'निर्वेद पर्यवसायिनी है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन ने महाभारत में शान्त रस का विचार करते हुये कहा है कि वहाँ वृष्णि एवं पाण्डव के वैरस्यापर्यवसायी विवरण से जिस 'वैराग्य' का अभिव्यञ्जन हुआ है उससे शांत रस की ही विवक्षा सूचित हुई है। महाभारत में शान्त रस की अंगीरूप से संस्थिति प्रतिपादित करने के लिये एक तरफ समस्त भौतिक विभूति का संहार में पर्यवसान दिखाते हुये बाह्य संसार से अपरांक्त और दूसरी तरफ परमार्थ सत्य स्वरूप भगवान् वासुदेव का कीर्तन प्रस्तुत किया गया है। अन्य प्रकार के उपदेश और विशिष्ट विभूतियों का निरूपण परतत्त्व की प्राप्ति के साधन रूप में ही सन्निविष्ट किये गये हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में भी 'प्रसाद' जी ने समस्त बौद्धिक और भौतिक उत्कर्ष का विरसावसायी संहार दिखाते हुए मनु में 'निर्वेद' की सृष्टि की है। 'निर्वेद' सर्ग में मनु के लिये कहा गया है—

"सोच रहे थे", जीवन सुख है? ना यह विकट पहेली है।
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है।"

* * *

"श्रद्धा के रहते यह सम्भव नहीं कि कुछ कर पाऊँगा
तो फिर शांति मिलेगी मुझ को जहाँ, खोजता जाऊँगा।"

स्मरणीय है कि इस 'निर्वेद' और 'चिंता-आशा'—वाले निर्वेद में अन्तर है। पहला क्षणिक है, इसलिए उस वृत्ति के साथ-साथ—

नव हो जगी अनादि वासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था,
द्वंद्व, सुखद करके अनुमान"—

अर्थात् मनु में "जीवन जीवन की पुकार" भी उठती रही। परवर्ती 'निर्वेद' में निशिचारी भीषण विचारों के पंख सर्राटे भरते हैं, अब रजनी भीमा जान पड़ती है, जीवन सुखमय नहीं प्रतीत होता, जगत् इन्द्रजाल लगता है—मन जीवन जगत् के हर कोने को सुख की आशा में दौड़-दौड़कर छू चुका है, पर सुख का मिलना तो दूर रहा, अपनी सीमाओं से टकरा-टकराकर उसका समस्त संकीर्ण अहं चूर-चूर हो गया है फिर भी शांति की भूख है और तदर्थ खोज का सकल्प भी।

यहाँ एक प्रश्न फिर उठ सकता है। प्रश्न यह है कि फिर 'श्रद्धा' सर्ग का दिया गया उपदेश, काम की अशरीरिणीवाक् का महत्त्व, 'इड़ा' सर्ग में 'काम' की दी गई पुन, उद्बोधना आदि जिनसे विश्व का चिति के विराट् मंगलमय वपु का समर्थन हुआ है प्रवृत्ति मार्ग की महिमा बताई गई है, संसार को ग्राह्य कहा गया, श्रद्धा के ग्रहण द्वारा आत्मविस्तार का मार्ग बताया गया—की सार्थकता क्या रही? इनका 'शान्त' की निष्पत्ति में क्या योग रहा?

(ञ) राग और विराग, विराग और राग—दार्शनिक पृष्ठभूमि :—

वास्तव में शांकर अद्वैतियों से आगम अद्वयवादियों की अध्यात्मयात्रा विशिष्ट है। शांकर अद्वैतवादियों के यहाँ अंतत सोऽहमस्मि की अखण्डाकार वृत्ति द्वारा कतक-रजोन्यायेन स्वयं को और साथ ही साथ समस्त आविधिक प्रपञ्च की मूल अविद्या को समाप्त कर निरावृत चित्तत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है—सारा प्रपंच उसके लिये निवृत्त हो जाता है। अद्वयवादियों के यहाँ बाह्य प्रपंच से विरक्त होकर अंतश्चैतन्य का जागरण अध्यात्मयात्रा का अर्द्धवृत्त है और अंत-श्चैतन्य के जागरण के बाद बाह्य प्रपञ्च का पुनः चिन्मयीकरण अवशिष्ट अर्द्धवृत्त है। इस प्रकार इनकी अध्यात्मयात्रा जो शांत के आस्वाद में समाप्त होती है पूर्ण होती है। शांकर अद्वैतवादियों के यहाँ 'प्रकाश' तो निरावृत हो जाता है पर

'क्रियाशक्ति' प्रसुप्त रहती है इसलिये आगमिक जन शांकर अद्वैत को 'शान्तब्रह्मवाद' कहते हैं और स्वयं को 'पूर्णतावादी' मानते हैं। इस प्रकार श्रद्धा का उपदेश काम की आकाशवाणी, 'इड़ा' में काम का उद्बोधन आदि सब कुछ से निर्दिष्ट रागमार्ग का अधिकारी मनु तब होता है जब वह 'योग्य' बन जाता है। "रागेण बद्ध्यते लोकः रागेणैव विमुच्यते" राग बन्धन का भी हेतु है और राग उन्मुक्ति का भी निर्विण्ण (निर्वेद से पहले) होने के पहिले का राग व्यक्तिकेंद्रित आसक्तिमय, मांसल तथा भौतिक होने से शांत में साक्षात् उपयोगी नहीं होता। साक्षात् उपयोगी न होने का अभिप्राय यह है कि परम्परया उपयोगी होता है। परम्परया उपयोगी इस प्रकार होता है कि जीवन का वह सब अंश अंतत. दुःख-पर्यवसायी होने के कारण सच्चा 'निर्वेद' उत्पन्न करने में उपयोगी होता है। जिससे साधक अंतर्मुख होकर 'अशुद्ध अध्वा' पार कर जाता है पूर्णतः 'ज्ञानशक्ति' का विकास कर लेता है। पुनः 'शुद्धाध्वा' में प्रविष्ट होने पर 'क्रियाशक्ति' का भी विकास होता है फलत जब जगत् का भी चिन्मयीकरण हो जाता है 'इंद' से उन्मग्न 'अहं' 'इंद' को भी 'अहं में परिणत कर लेता है सारा विश्व स्वाङ्गवत् प्रतीत होने लगता है—

हम अन्य न, और कुटम्बी
हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
"जिसमें कुछ नहीं कमी है", (पूर्णता)—'आनन्द'

विमर्शात्मिकाशक्ति के पूर्ण विकास से यह शून्य रागमय हो उठता है—

जिस मुरली के निःस्वन से
यह शून्य रागमय होता :
वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुखरित होता ॥

इस विस्तृत विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि 'निर्वेद' के पहले की सारी रागमार्गी 'साधना योग्य' होने के बाद की साधना है और योग्यता आती है—संकीर्ण अहं के सर्वथा भस्मसात् होने पर, परसत्ता के प्रति सम्पूर्ण रूप में समर्पण भाव के उदय होने पर और यह सब कुछ हुआ है तब जब आसक्तिमूलक रागमय जीवन का चिरसावसायी रूप सामने आया है अर्थात् (संघर्ष) के बाद—

(ञ) 'योग्यता' उपलब्धि की स्थिति :—

'निर्वेद' के अनंतर 'उसे' 'पारमेश्वर अनुग्रह' या 'तीव्र मध्य शक्तिपात' होता है, श्रद्धा के रूप में गुरु मिलते हैं—'कथन' दीक्षा के फलस्वरूप आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा होती है, रहस्य का भेद होता है—यह सब कुछ 'दर्शन' एवं 'रहस्य' में संपन्न होता है फिर व्यक्ति-लभ्य 'रहस्य' का उपयोग 'मनन' और 'श्रद्धा' के योग से उत्पन्न होनेवाली मानवता के केंद्र 'मानव' के लिये कैलास तीर्थ पर होता है।

मनु कहते हैं :—

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! "यह मैं हूं"
यह विश्व नीड़ बन जाता" (आनन्द)

इस प्रकार सारी वृत्ति का सारा समारंभ 'शान्त' पर्यवसायी है। अभिप्राय यह कि कामायनी का प्रतिपाद्य अंगीरस शान्त ही है।

(ट) अंगांगि-निरूपण :—

'कामायनी' के अंगीरस का निरूपण हो जाने के अनंतर संप्रति, यह विचारणीय है कि इसमें अंग रूपमें समायोजित अन्य भावों का अगीरस से कैसा सम्बन्ध है?

प्रस्तुत कृति में जितने भी भावों (संचारी स्थायी) की व्यजना की गई है—विचार करने पर ऐसा लगता है कि उसमें से कतिपय तो निर्वेद या वैराग्य जनन द्वारा 'अंगी' के 'अंग' बन रहे हैं और कतिपय ऐसे भी हैं जो सीधे उससे संबद्ध हैं। उदाहरण के लिये 'अद्भुत' की व्यंजना जहाँ भी हुई है—प्रायः परतत्त्व के साक्षात्कार के अनुभाव रूप में हुई है। एक भाव दूसरे भाव का अनुभाव भी होता है इसलिये यदि 'अद्भुत' को अनुभाव कहा जा रहा है तो उसमें कोई अद्भुतता नहीं समझनी चाहिए। गीता में कहा है "आश्चर्यवद् वदति पश्यति कश्चिदेनम्" द्रष्टा उसे आश्चर्यान्वित होकर देखता है उसी के अनुभव से यह आश्चर्य होता है अथवा आश्चर्य से उसका अनुभव होता है कुछ भी कहें, परतत्त्व के साक्षात्कारवश ही यह है। 'दर्शन' सर्ग के अंत में साक्षात्कार-जन्य ही विस्मयावेश है जिसमें वह खिल उठते हैं—

"देखा मनु ने नर्तित नटेश
हतचेत पुकार उठे विशेष,

"यह क्या : श्रद्धे ! बस तू ले चल—
उन चरणों तक, दे निज संबल ;
सब पाप पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल
मिटते असत्य से ज्ञानलेश
समरस अखंड आनंद वेश ।।"

"दर्शन" सर्ग से ही 'कथनदीक्षा' का जो आरम्भ होता है। उस संदर्भ में आगत समस्त सामग्री 'शम' के अनुभव में साक्षात् उपयोगी है' चाहे वह त्रिलोक दर्शन हो या श्रद्धास्मितिवश उनका एकीकरण हो—अथवा उन सबके 'मध्यबिंदु' के रूप में आत्मप्रत्यभिज्ञा हो—आगे की 'श्रद्धायुत वश मनु का तन्मय होना' या 'आनन्द' अखंड घना था'—

'शम' की काष्ठापन्न स्थिति है।

'निर्वेद' और निर्वेद से पूर्व मनु 'रागमार्गी' सात्विक साधना के योग्य नहीं हैं, इसलिये उसके पूर्व का उनका आचरण दुःखावसायी होकर 'निर्वेद' की ओर बढ़ता है। वस्तुत. निर्विण्ण या अनासक्त साधक ही समष्टिगामी रागमार्ग या प्रवृत्ति मार्ग का पथिक हो सकता है।

'निर्वेद' से पूर्व उनके मन पर अनेक प्रकार की भावात्मक वृत्तियाँ उदित होती हैं। निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, वितर्क, जड़ता, दैन्य, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मद, सुप्ति, निद्रा, विबोध, व्रीडा, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, विषाद, औत्सुक्य एवं चापल्य जैसे संचारियों के नक्षत्र तो हृदयाकाश में (मनु एवं श्रद्धा के) प्रकट हैं ही, कतिपय स्थायी भाव भी अपनी समस्त सामग्री के साथ निष्पन्न हुये हैं। इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है और वह यह कि एक ही काव्य में अनेक 'रस' नहीं होते—रस एक ही होता है और वही अंगी कहा जाता है औरों के लिये जो 'रस' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है—वह "ब्राह्मणश्रमणन्याय" से। अर्थात् जैसे श्रमण को ब्राह्मण उसकी पूर्वावस्था वश कहा जाता है, वैसे ही अंग को भी रस उसकी अंगीवाली स्थिति को ध्यान में रखकर कहा जाता है। इसलिये जो रस विवेचक यह कहा करते हैं कि कामायनी में अनेक रसों की योजना हुई है—पर अंतिम चार सर्गों में 'ही' शांतरस की व्यंजना है मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। वास्तव में 'निर्वेद' की गंगा में अन्य भाव सरिताएँ मिलती हैं और उस सारे प्रवाह को आत्म पर्यवसायी करता हुआ 'निर्वेद' 'शान्त' समुद्र में लीन हो गया है।

'प्रसाद' जी पर यह आक्षेप किया गया है कि वे प्रबन्धानुरूप अंतर्योजन की लीक को संतुलित नहीं रख सके हैं क्योंकि वे भाव-मूर्ति अधिक हो गये हैं एक-एक भाव की प्रेरणा और

बाह्य प्रवृत्तियों के निरूपण में इतना रम गये हैं कि अन्तर्नियोजित सूत्र उपेक्षित हो गया है। कामायनी के प्रत्येक सर्ग की संज्ञा ही इस आक्षेप की पुष्टि करती है। प्रमाण में 'लज्जा' सर्ग को लिया जा सकता है—यहाँ 'लज्जा' को नराकार उद्भावना, प्रेरणा और प्रवृत्तियों का भाव-विह्वल-चित्रण करने में कवि अपने को इतना निमग्न कर देता है कि सारे सर्ग में नायक ही छूट जाता है। यह बात अलग है कि नारी और लज्जा के पारस्परिक कथन में 'सामरस्य' के [अंत. सूत्र या] गंतव्य तत्त्व पर भी ध्यान बना रहता है। वास्तव में 'प्रसाद' जी शृंगार और करुण के मार्मिक गायक हैं—वे उनकी व्यक्तिगत रुचियाँ हैं अत. उनका प्रसंग आने पर रम सकते हैं अपेक्षित या प्रबंधोचित ताटस्थ्य नहीं निबाह सकते। वास्तव में शृंगार की जो अनादिवासना 'आशा' से अपना मुँह खोलती है वह किसी न किसी प्रकार अपने तमाम आरोहा-वरोहों के साथ 'श्रद्धा' और 'इड़ा' के कूलों में उन्मद होकर तबतक बहती है जब तक कि इस अतिरेक और व्यभिचार से सारी प्रकृति और देव शक्तियाँ क्षुब्ध होकर उसे धराशायी नहीं बना देती।

(ङ) अंगशृंगार :—

शृंगार की व्यंजना श्रद्धा को आलम्बन बनाकर तो की ही गई है और संयोग तथा विप्रयोग के दोनों पार्श्वों के साथ 'इड़ा' को भी आलम्बन रूप में चित्रित किया गया है। श्रद्धा के आलम्बनत्व में 'रसोपनिषद्' औचित्य का निर्वाह है, पर 'इड़ा' के आलम्बनत्व में एकांगिता होने से 'अनौचित्य' है फलत उसे रसाभास या (अंग होने से) भावाभास भी कहा जा सकता है।

श्रद्धा का आलम्बनात्मक चित्र समूचे हिंदी साहित्य में उल्लेख्य योग्य बन गया है। मनु की अनादिवासना श्मशान वैराग्य के ढक्कन के नीचे धधक ही रही थी कि कामायनी उनके जीवन में प्रविष्ट होती है और कहती है "समर्पण लो"। दोनों के जीवन वन में यौवन का मधुमय वसंत है ही। मिलने में जो थोड़ी बहुत दुविधा रहती है 'काम' की वाणी उसे भी समाप्त कर देती है, मनु निश्चय ही कर लेते हैं "जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार जीवन के"। 'शृंगार' की इस उफान में अन्य भाव संचारी के रूप में आते हैं। मनु अतिथि श्रद्धा के प्यार का एकच्छत्र अधिकारी स्वयं को मानता है, अतः जब श्रद्धा पशु पर अपना प्यार विकीर्ण करती है, तब 'विराग' की विभूति 'ईर्ष्या' के पवन से उड़ जाती है। यहाँ 'वैराग्य' का शमन और 'ईर्ष्या' का उदय है। ईर्ष्या के साथ-साथ 'अमर्ष' के अस्त ज्वलन कण भी उदित होते हैं। कुछ क्षणों में ही जब वह

अतिथि चपल शैशव सा भूल का मनोहर भार ले मनु के पास आ जाता है तब रूप की परमाशोभा देखकर वह उमंग में विलीन हो जाता है, फलतः ईर्ष्या का अवरोध हो जाता है। वास्तव में ईर्ष्या के उदय और अस्त को लेकर यहाँ भावोदय और भावशांति की जो लोग बात करते हैं वे भावोदय और भावशांति व्यवस्था से अपरिचित हैं। सबसे पहली बात तो यह ध्यातव्य है कि यहाँ स्वशब्दवाच्यत्वदोष है। भावों और उसके उदय तथा अस्तगमन दोनों की जहाँ अनुभाव विधान द्वारा व्यंजना हो वहाँ निर्विवाद रूप से भावोदय और भावशांति की बात की जाती है। ये स्थल ऐसे नहीं हैं। वैसे पण्डितराज ने तो सर्वत्र "भावध्वनि" के व्यवहार का ही समर्थन किया है। कभी कामायनी के कारण मनु में और कभी मनु के कारण कामायनी में मान की भावना उदित होती है और पारस्परिक अनुनय विनय से वह शांत होती है। इस प्रकार साहचर्यवश अन्यान्य संचारी भावों से पोषित रति की तृप्ति के सूचक अनुभावों का भी विधान यत्र-तत्र मिलता है। 'वासना' में संभोग का स्वरूप अपनी काष्ठापन्न स्थिति में उपलब्ध होता है "मिलन का संगीत लेने लगा था श्री मंत"—

"भरा रह गया आँखों में जल बुझी न वह ज्वाला जलती" से एक ओर 'श्रद्धा' का मनु के मानस पर यह विप्रलंभ पर्यवसायी शृंगार स्वप्न चल रहा था और दूसरी ओर 'इड़ा' के साथ विरसावसायी शृंगार का एकांगी सूत्रपात। परिणाम यह हुआ कि सारी प्रकृति और दैव शक्तियाँ क्रुद्ध हो पड़ती हैं और 'वीर' 'रौद्र' एवं भयानक' के प्रसंग खिलने लगते हैं। 'उत्साह' सम्पन्न मनु कुछ शत्रुओं से लड़ने निकल पड़ते हैं, युद्ध का भयावह रूप मनु में 'रौद्र' भाव का उत्तेजक बन जाता है। वे उसी आवेग में किलात और आकुलि को धराशायी भी बनाते हुए अंततः स्वयं भी धराशायी हो जाते हैं—मुमूर्षु होकर कराहने लगते हैं। उस अवस्था में 'इड़ा' और श्रद्धा क्रमशः दोनों ही पहुँचती हैं। 'इड़ा' से उन्हें अपरक्ति एवं श्रद्धा को पाकर हर्ष का अनुभव होता है लेकिन आत्मग्लानि की आँच से बचने के लिये वे सबको छोड़कर पुनः भाग निकलते हैं। श्रद्धा अपना संबल देने उस हताश मनुके पास पुनः पहुँचती है। इस प्रकार इन विभिन्न भावों की सामूहिक परिणति अंततः 'निर्वेद' में होती है, फलतः मनु इस संकीर्ण राग की उपासना से निर्विण्ण होकर आत्यंतिक और ऐकांतिक शांति लाभ के निमित्त अपने आपको 'श्रद्धा' को समर्पित कर देते हैं। इस 'श्रद्धा' की छाया में वे शांत रसोपयोगी निमित्तों से संवलित होकर सामरस्य-दशा की ओर बढ़ते हैं और अखण्ड आनन्द से एकरस हो जाते हैं। यही शांत की काष्ठापन्न स्थिति है।

इस प्रकार इस कृति में नियोजित समस्त वृत्तियाँ या भावराशि शांत के अनुरूप ही हैं और 'शान्त' ही कामायनी का अंगी रस है।

(ढ) निष्कर्ष :—

अंततः, मेरे विचार में अभिनव गुप्त 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा'१ 'शम' को 'शान्त' का स्थायी भाव मानते हैं, जो 'नित्यानित्यविवेक वस्तु जन्मा, 'विषय-विराग' रूप 'निर्वेद' से अपनी भावात्मकता और सुखात्मकता में भिन्न है। फलतः मैं उन विद्वानों के मत से सहमत नहीं हूं जो 'शम' को अभावात्मक बताकर मूल शांत रस (अभिनव गुप्त की प्रत्यभिज्ञादर्शन सम्मत रस की चरम स्थिति) से उसे विच्छिन्न या भिन्न कहना चाहते हैं। प्रत्यभिज्ञा के अनुसार शृंगारादि प्रत्येक रस की चरम परिणति जिस दशा में है इस 'शान्त' (भेदरूप) की भी परिणति उसी में है अतः पार्यन्तिक दृष्टि से तो रसभेद ही नहीं है 'फलभूमि' एक ही है 'पूर्वभूमियां' भिन्न-भिन्न होती हैं। उस 'फलभूमि' को प्रत्यभिज्ञा वाले 'शान्त' दशा मानते हैं, घनीभूत अखंड आनद की स्थिति मानते हैं—निर्विशेषण 'रसदशा' भी कहते हैं। आनन्दमयता रस की स्वरूपात्मक विशेषता है, आगन्तुक विशेषता नहीं है, जो विशेषण के रूप में 'रस' के पहले प्रयुक्त हो। 'प्रसाद' जी ने केवल बल देने के लिये 'आनन्दरस' शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया है जैसे 'उष्ण आग' का प्रयोग कभी-कभी कर दिया जाता है। पार्यन्तिक दशा तो निर्विशेष (रस) है। यह बात अलग है कि प्रत्यभिज्ञा के अनुसार उसमें सभी 'विशेष' समाविष्ट हैं। प्रत्यभिज्ञा के अनुसार 'पूर्णाहंताका चमत्कार ही रसबोध' है। ब्रह्मानद से यह विलक्षण है, क्योंकि वहाँ आस्वादन

---

१. आनन्दवर्द्धन ने इस 'शम' के परिपोष को शांत कहा है जो 'समस्ततृष्णा क्षयसुखात्मा' है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि समस्त विषयाभिलाषा या तृष्णा का क्षय [सर्वतो निवृत्ति रूप] निर्वेद है और यह भावात्मक तथा सुखात्मक है यही शम स्थायीभाव है इसी की अपनी रस्यमानता में जो परिपोष है—वह शांत है। जो लोग 'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम' को शान्त का स्थायी मानते हैं—वे लोग 'तृष्णा के असद्भाव' की बात करते हैं फलतः प्रसज्य प्रतिषेध रूप होने से यह चित्तवृत्ति रूप नहीं हुआ और ऐसा होने से उसकी भावात्मक स्थायीरूपता—चित्तवृत्ति विशेषरूपता—सिद्ध नहीं होगी। पर्युदास ('अधर्म' की भाँति) मानने से पूर्वोक्त व्याख्या के अनुरूप ही इसका भी तात्पर्य होगा। 'स्वं स्वं निमित्त'—वालों से पहली व्याख्या का केवल प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का ही अंतर है। युक्ततर तो प्रध्वंसाभावपरक पहला रूप ही है।

—"लोचन"

का वर्चस नहीं है, 'रस' में सब कुछ है। शांकर ब्रह्मवाद के अनुसार ब्रह्मानंद की चर्वणा सम्भव नहीं है—प्रत्यभिज्ञा के अनुसार वहां सब कुछ सम्भव है।

लेख में यह बात ऊपर स्पष्ट कर दी जा चुकी है कि नवम रस के रूप में जिस शमस्थायी भाव वाले 'शांत' का उल्लेख काव्यशास्त्र में किया जाता है उसकी भी फलभूमि या पार्यन्तिक परिणति अन्य रसों की भाँति वही है जिसे सबका मूल कहा जाता है। इसलिये उपाधि की दृष्टि से रसगत जहाँ अनेकरूपता सम्भव है, वहीं उपहित की दृष्टि से वह एक और केवल एक 'रस' है, किंवा उपाधि एवं उपहित की द्वयता से अतीत केवल 'रस' है। यही मूलरस है—वास्तव में यह स्थिति वर्णनातीत है अतः काव्य में वर्ण्य विषय इसकी साधनावस्था ही होती है। फलतः कामायनी के 'शान्तरस' को एक रस भेद के रूप में लेते हुए भी उसे मूलरस में पर्यवसित कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह कि कामायनी में भेदरूप शांत रस नहीं है यह स्थापना चिन्त्य है। इसी प्रकार यह भी चिन्त्य है कि 'कामायनी' में 'वैराग्य' स्थायीभाव वाला शांत नहीं है। 'निर्वेद' सर्ग में समस्त पूर्ववर्ती वृत्तियों की निर्वेद पर्यवसायिनी स्थिति प्रदर्शित की गई है अतः प्रत्यभिज्ञासम्मत अध्यात्म यात्रा के अर्द्धवृत्त का वह भी एक शिखर है इस रूप में उसकी भी अविरोधी स्थिति मानी जा सकती है—उसे आप 'शांतरस' न कहें—एक संचारी भाव के रूप में—अंग भाव के रूप में ले सकते हैं। इसी प्रकार यह कहना भी विचारणीय है कि शृंगार शांत का विरोधी है। विरोधी हैं शांत और शृंगार—पर काव्य में इस विरोध का परिहार हो जाता है। कामायनी में भी है। 'चिन्ता' का 'शृंगार' अनुभूयमान नहीं, स्मर्यमाण है अतः चिन्ताकुल दशा का उससे कोई विरोध नहीं है। 'श्रद्धा' से 'संघर्ष' पर्यन्त प्रसरित आभासात्मक और अनाभासात्मक रूप शृंगार विरसावसायी होने से 'निर्वेद' द्वारा पार्यन्तिक 'शान्त' की परिणति में अंग ही बन गया है। वहाँ दोनों का नैरन्तर्य विरोध नहीं है। इसीलिये शृंगार की अंगीरस के रूप में उद्भावना भी निराधार है। यह समझना भी भ्रम है कि 'कामायनी' के एक छोर पर 'शृंगार' की और दूसरे छोर पर 'भेदरूप शान्त' की संस्थिति है—वास्तव में 'शान्त' के अनुरूप आश्रय की मूल मनोवृत्ति आरम्भ से ही है—यह बात अलग है कि तब मनु में प्राक्तन कुशलकर्म परिपाक, पारमेश्वरानुग्रह, अध्यात्म रहस्य शास्त्र एवं वीतराग का अनुशीलन आदि विभावों की सम्यक् उपस्थिति नहीं है। इसीलिये वह भाव अंकुरित होकर भी अनुद्दीप्त ही रह गया है। इसलिये यह कहना भी भ्रान्ति से शून्य नहीं है कि शृंगार एवं शांत अपनी भेद रूपता में कामायनी के अंगीरस न होकर सबका मूल रस ही कामायनी का अंगीरस है। सबका मूलरस (शांतरस) कामायनी का

अंगीरस अवश्य है पर यह कथन और उद्भावन कि 'शृंगार' की भी कामायनी में अंगीरूपता संभावित है—सर्वथा निराधार और अतर्कसंगत है। साथ ही भेदरूप 'शान्त' की 'मूलरस' से भिन्नता बताना भी उतना ही अतर्कप्रतिष्ठ है।

वास्तव में 'शृंगार' एवं 'शान्त' जैसी दो मनोदशाओं की अंगीरूप में जो उद्भावना की गई है अथवा जिन लोगों ने ऐसा सोचा है—उन्हें स्थायी भाव के स्वरूप के विषय में भ्रम है। स्थायीभाव का स्वरूप उसकी 'बहुव्यापिता'२ नहीं, वरन् प्रबन्ध में 'आद्योपांतस्थिरता'३ है अथवा जो 'आद्योपांत स्थिर' होगा वही 'बहुव्यापी' भी हो सकता है। 'बहुव्यापी' को 'आद्योपांतस्थिर' के अर्थ में ही स्थायी का लक्षण मानना होगा—अन्यथा एक प्रबन्धमें अनेकरस की संस्थिति कहनी पड़ेगी—जैसा कि 'कामायनी' के रसविवेचन के संदर्भ में आलोचकों को कहना भी पड़ा है। भारतीय काव्य शास्त्र के मर्म का जिसको पता है—वह मानता है कि प्रबन्ध में 'अंगीरस' या रस एक ही होता है और भावों में स्थायित्व या उनके परिपोष में रसरूपता का जितने भी—लक्षण और लक्ष्य ग्रंथों में प्रयोग है—वे सब 'ब्राह्मण श्रमण न्यायेन' लाक्षणिक प्रयोग इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये मैं बहुत कुछ कहना अनावश्यक मानता हूँ। रसों के अंगांगिभाव के समर्थन में जो भागुरि-वाक्य उद्धृत हुआ करता है वह 'सर्वतंत्र सिद्धांत' नहीं है, वरन् 'अभ्युपगम' सिद्धांत है। ऐसे लोगों को समझना चाहिये कि जिस प्रकार प्रासंगिक घटनाओं के बीच एक आद्योपांत—आधिकारिक कथा-व्याप्त रहती है, अनेक पात्रों के बीच एक आद्योपांत—सक्रिय नायक होता है—उसी प्रकार विभिन्न भावों के बीच एक ही स्थायी भाव आद्योपांतस्थिर फलतः 'बहुव्यापी' होता है। स्थायी भाव की स्थिरता प्रबंध काव्य में उसकी पुन. पुन. अभिव्यंजना ही है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कामायनी का अंगीरस 'शान्तरस' है—जिसका स्थायी भाव (अभिनवगुप्त की दृष्टि से) शम है। 'पूर्व भूमि' में यह भेद रस होते हुए भी पर्यन्त में 'मूल रस' में पर्यवसित हो जाता है। 'निर्वेद' या 'वैराग्य' भी प्रत्यभिज्ञा

---

२. बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः। भ० ना० ७।१२०

३. "आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। न च चित्तवृत्ति विशेषाणा मेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम्, वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वति प्रसक्तम् —इति वाच्यम्, वासना रूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभि व्यक्तेरेव स्थिर पदार्थत्वात्॥

—रसगंगाधर, प्र० आ०

पद्धति की शांतपर्यवसायी साधना में एक भूमि पर उपयोगी है। बद्धभूमि के मनु के मानस पर उदित अन्यान्य उचित, अनुचित रत्यादिभाव भी अन्ततः 'निर्वेद' पर्यवसायी हैं। इस प्रकार क्रम यों हुआ—

बद्धभूमिका में भी 'स्वभाव' की ओर जाने की सहज भूख>
अनादिवासना की संकीर्ण दृष्टि से मुक्ति>
निर्वेद या वैराग्य में भौतिक भोगों की परिणति>
अन्तःकरण की संशुद्धिवश समस्ततृष्णाक्षय सुखात्मा शम का प्रवाह>
(अपूर्णता) अभावनिवृत्तिपूर्वक 'पूर्णता' का उदय मूलरस में विश्रान्ति।



महाकवि ग्वाल की वंश-परम्परा और उनके पूर्वज

भगवान सहाय पचौरी

ग्वाल कवि ने यमुना लहरी, रसिकानन्द, नखशिख, कविदर्पण, रसरंग, बलवीर विनोद, साहित्यानन्द, दगशतक और भक्तभावन में अपने वंश, पिता वासस्थान, गुरु आदि का उल्लेख करके हमारी समस्या को बहुत कुछ सुलझा दिया है१। रसिकानन्द में कविवंश वर्णन प्रसंग में कवि ने २१ दोहोंमें अति विस्तारपूर्वक अपने वंश-कुल, वंश-परम्परा एवं पूर्वजों का इतिहास वर्णन किया है। कवि बन्दी विप्र वंश में उत्पन्न था। इस प्रसंग में उसने बन्दी के समानार्थी सूत और मागध शब्दों की व्याकरणिक व्युत्पत्ति भी की है। बन्दी को 'बन्द्' धातु से व्युत्पन्न बता कर अपने वंश का इतिहास कवि ने निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया है :—

"कहन स्तुति वहि धातु यह, सोजा में विदिमान।
सो बंदी कहिये कवि यह निरुक्ति जिय जान ॥५५॥
ता बदी के बस में, प्रगटे माथुर राय।
पण्डित परम सुजान मीत, सज्जन सुमति सुभाय ॥५६॥
जगन्नाथ जू प्रघट हुअ, तिनके तनय प्रसंस।
विद्या बोध उदार मति, जिनजीते बुधबंस ॥५७॥
तिनके प्रगटे सुखद सुत, श्रीमन राय मुकंद।
मुरलीधर जू तिन तनय, रक्षक श्री ब्रजचन्द ॥५८॥
श्री मुरलीधर राय जू, काव्य छन्द लवलीन।
राजा सूरज मल्ल की, सभा आय बस कीन ॥५९॥
दये अस्व कच्छी तिन्हें, हिम्मत बहादुर भूप।
राजमान अति ही भये, सुहृद उदार अनूप ॥६०॥
श्रीमन सेवा राय जू, तिनके सुत अवतंस।
काव्य गान रस में भये, सुहृद उदार प्रसंस ॥६१॥
ग्वाल राय तिनको तनय, श्री वृन्दावन वास।
देख्यो कछु साहित्यमत, ग्रंथ पंथ रसरास ॥६२॥२

१. यमुना लहरी छन्द संख्या २-३, रसिकानन्द प्रथम प्रकरण सं० ४२ से ६२, नखशिख छं० सं० ९, कवि दर्पण प्रथम कांति छ० सं० ३, रसरंग प्रथम उमंग छं० सं० ५, साहित्यानंद प्रथम स्कन्ध छं० स० २, दगशतक छं० सं० २।

२. रसिकानंद (हस्तलिखित) ग्वालकवि, प्रथम प्रकरण, कवि वंश वर्णन।

इस आधार पर कवि का वंशवृक्ष इस प्रकार तैयार होता है—

मागध बन्दी वंश

|

माथुर राय

|

जगन्नाथ राय

|

मुकुन्द राय

|

मुरलीधर राय

|

सेवाराम राय

|

ग्वाल राय

कवि ने अपने दो पूर्वजों को विद्वान पंडित लिखा है। पितामह 'काव्य छन्द लवलीन' और पिता 'सहृदय काव्य गान-पटु' और 'उदारमना' थे मिश्र बन्धुओं ने मुरलीधर उपनाम मुरली संज्ञक एक कवि को 'कवि विनोद', 'रस विनोद' और 'नलोपाख्यान' का रचयिता बताया है और जन्मकाल स० १७४० एवं कविता काल सं० १७७० वि० लिखा है३। इन्होंने दूसरे एक मुरली कवि की भी चर्चा की है, जिसका कविता काल स० १८३० था४। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी एक मुरलीधर का उल्लेख किया है५। खोज में एक मुरलीधर राय का और पता लगा है, जो भासा भागवत (पंचम स्कन्ध) के रचयिता और भरतपुर नरेश नवलसिंह के आश्रित रहे थे६। नवलसिंह ने स० १८२६ वि० से १८३२ वि० तक भरतपुर में राज्य किया७। कवि के पितामह यही मुरलीधर राय

---

३. मिश्रबन्धु विनोद · दूसरा भाग ले० मिश्रबन्धु सं० १९८४ वि० पृष्ठ ५७२।

४. वही, पृष्ठ ७७९।

५. हि० सा० का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, २०१८ वि० पृष्ठ ५४।

६. ह० लि० पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण भाग। पृष्ठ १७४, खो० रि० १९०। वि० सं० ३०३।

७. ब्रज का इतिहास। श्री श्रीकृष्णदत्त बाजपेयी, भाग १, पृष्ठ १९६-१९७।

प्रतीत होते हैं। कवि द्वारा वर्णित राजा सूरजमल भरतपुर के शासक का राज्यकाल सं० १८१२-१८२० वि० है८। राजा हिम्मत बहादुर ने रजधान जिला बांदा में सं० १८०७ वि० से १८५२ वि० तक राज्य किया९। पद्माकर इन्हीं के आश्रित (सं० १८३५-१८५२ वि०) रहे। मुरलीधर राय इस प्रकार सूरजमल और हिम्मत बहादुर दोनों के समसामयिक सिद्ध होते हैं। कवि के पिता सेवाराम भी कवि थे। श्री श्याम सुन्दर दास ने इनको मथुरा निवासी ब्रह्मभट्ट ब्राह्मण बताया है१०। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी ने इनके लिखे 'भवरगीत' नामक काव्य ग्रंथ की चर्चा की है तथा इनको मथुरा निवासी प्रसिद्ध कवि ग्वाल का पिता माना है११। बाबू श्यामसुन्दर दास एवं श्री चतुर्वेदी दोनों ही सं० १८७९ वि० में इनकी उपस्थिति स्वीकार करते हैं। अतः अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य से सिद्ध होता है कि कवि के पिता और पितामह दोनों ही कवि और ग्रंथकार थे। सर्वश्री नवनीत चतुर्वेदी एवं प्रभुदयाल मीतल को इन दोनों के कवि होने का कोई प्रामाण्य साक्ष्य नहीं मिला१२।

नवनीत जी को कवि के पिता के नाम में भ्रान्ति हुई है। वे लिखते हैं कि "ग्वाल जी ने अपने को इन्हीं मुरलीधर का पुत्र लिखा है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ग्वाल जी के पिता का नाम मुरलीधर था अथवा सेवाराम ? यमुना लहरी के प्रमाण से, मिश्रबन्धु विनोद, कविता कौमुदी सबमें सेवाराम ही लिखा है। हमने भी बड़े लोगों के मुँह से ऐसा ही सुना है। पर न मालूम रसिकानन्द में ग्वाल जी ने सेवाराम न लिख कर मुरलीधर क्यों लिखा है, हमारा तो ऐसा अनुमान है कि या तो सेवाराम और मुरलीधर एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं अथवा इन दोनों में से ग्वाल एक के औरस और दूसरे के

---

८. वही।

९. दि फाल आफ दि मुगल एम्पायर : सर यदुनाथ सरकार, भाग ३, १९३८ ई० पृष्ठ ३१२-३१३।

१०. ह० लि० हिन्दी पुस्तकों की खोज का संक्षिप्त विवरण, प्रथम भाग, सं० बा० श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ १९८, खो० रि० १९०१—कवि सख्या ९०, १९०५ कवि संख्या १४।

११. राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका, पटना : हिन्दी का भंवर गीत साहित्य एक परिचय ले० प० जवाहरलाल चतुर्वेदी पृष्ठ १८।

१२. विशाल भारत : वर्ष २ अंक १ : ग्वाल कवि ले० श्री नवनीत चतुर्वेदी, पृष्ठ ४३८ ग्वाल कवि—प्रभु दयाल मीतल २०१७ वि० पृष्ठ ७ और ८।

दत्तक पुत्र होंगे। अब तक ग्वाल जी के पिता का नाम निश्चित था पर रसिकानन्द के कारण यह विषय भी विवाद ग्रस्त होगया है[१३]। इस सम्बन्ध में हमने नवनीत जी के पुस्तकालय वाली रसिकानन्द की वह प्रति देखी, जिससे उनको यह निष्कर्ष निकालना पड़ा। वास्तव में इसके लिपिकार श्री रामलाल शर्मा, मुहल्ला सतघड़ा मथुरा निवासी[१४] से एक अनुलिपि सम्बन्धी भूल हुई है, जिससे यह बखेड़ा उठ खड़ा हुआ। यहाँ दोहा संख्या ६० के पश्चात ६१ वाँ दोहा लिपिबद्ध होने से छूट गया है, जो रसिकानन्द की जोधपुर वाली दोनों प्रतियों एवं राजा श्री प्रकाश सिंह मल्लापुर, सीतापुर की प्रतियों में भी उपलब्ध है। दोहा यह है :

श्रीमन सेवाराम जू, तिनके सुत अवतंस।
काव्य गान रस में भये, सुहृद उदार प्रसंस ॥६१॥[१५]

तत्पश्चात निम्नांकित दोहा के पढ़ने से सन्देह का यह बखेड़ा स्वयं ही समाप्त हो जाता है—

ग्वाल राय तिनको तनय, श्रीवृन्दावन बास।
देख्यो कछु साहित मत, ग्रंथ पथ रसरास ॥६२॥[१६]

लिपिकार की एक दूसरी प्रकार की भूल से डा॰ ब्रजनारायण सिंह सेवाराम के स्थान पर सेवाराय नाम मानना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका कथन इस प्रकार है—"कवि ने अपने पिता का नाम सेवाराय लिखा है। मिश्र बन्धु तथा पं॰ रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें सेवाराम का पुत्र माना है। 'इन्तखाबे यादगार' में भी इनके पिता का नाम सेवाराम तथा सेवाराय दोनों वर्णित है। यमुना लहरी के अन्तर्गत कवि ने अपने पिता का नाम सेवाराम लिखा है। उक्त विवरण से ज्ञात हो जाता है कि कवि सेवाराय का पुत्र था। यमुना लहरी में कवि ने किस प्रकार सेवाराम लिखा, कहा नहीं जा सकता। सम्भव है किसी लिपिकार की भूल के कारण ऐसा हो गया हो, क्योंकि वंशों के पूर्वजों के नाम को देखने से भी पता चलता है कि इन के पूर्व पुरुष माथुरराव, मुकुन्दराव, मुरलीधर राय

---

१३. विशाल भारत : वर्ष २ अंक १ ग्वाल कवि : श्री नवनीत चतुर्वेदी पृष्ठ ४३८।

१४. श्री नवनीत पुस्तकालय की रसिकानन्द की हस्तलिपि की पुष्पिका के अन्त में लिपिकार ने लिखा है "संवत् १९५० भाद्रपद कृष्ण ४ गुरौ लिखितं श्री मथुरा याम् सतघड़ा मध्ये राम लाल शर्मणा"।

१५. रसिकानन्द की जोधपुर वाली प्रतियां (प्रथम प्रकरण) कविवंश वर्णन।

१६. कविवर पद्माकर और उनका युग—डा॰ ब्रजनारायण सिंह, १९६६ ई॰ पृष्ठ १८२।

आदि थे। इसलिये 'राव' या 'राय' इनके नाम में परम्परागत हो जुड़ा था। इस दृष्टि से इनके पिता का नाम सेवाराय ही मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।"

डा० साहब के इस कथन से हम पूर्ण सहमत हैं कि 'राव' या 'राय' इनके (पूर्वज के) नाम में परम्परागत ही जुड़ा था। हमारा नम्र निवेदन है कि यह सेवाराम में भी जुड़ सकता है, जैसा कि मुरलीधर में जुड़ा है। वास्तव में कवि के पिता का नाम सेवाराम ही है, जो कवि ने अपने यमुना लहरी (१८७९ वि०) से भक्त भावन (संग्रह काल १९१९ वि०) तक में लिखा है। वंश की अल्ल 'राय' इसमें जुड़ती है। कवि के ग्रंथों की हमें ऐसी कोई प्रतिलिपि नहीं मिली, जिसमें कवि के पिता का नाम सेवाराय लिखा हो। मिश्र बन्धु विनोद लेकर अब तक हिन्दी साहित्य के प्रत्येक प्रकाशित इतिहास में 'सेवाराम' ही लिखा मिलता है। यमुना लहरी की प्रकाशित प्रति में भी 'सेवाराम' मुद्रित है[१७]। डा० सिंह द्वारा सन्दर्भित 'इन्तखाबे यादगार' में भी अमीर साहब लिखते हैं "ग्वाल राय कविवर वल्द राय सेवाराम कदीम विन्द्रावन के रहने वाले थे[१८]"। इसमें सेवाराम कहीं भी नहीं लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० सिंह को प्राप्त रसिकानन्द की प्रति में 'सेवाराम' के स्थान पर सम्भवतः 'सेवाराय' लिखा है। 'म' और 'य' की लिपि बनावट में सूक्ष्म सा ही अन्तर तो है, अतः यह लिपि की भूल सहज ही सम्भाव्य हो सकती है। वास्तव में कवि के पिता का नाम सेवाराम राय था, जो संक्षेप में सेवाराम लिखा जाता है।

---

१७. प्रकाशक—नवल किशोर प्रेस लखनऊ, तृतीय संस्करण सं० १९४५ वि०।

१८. इन्तखाबे यादगार, पृष्ठ ३२०।

काव्य में युद्ध वर्णन की प्रक्रिया

मदनलाल वर्मा

जिन काव्यों में युद्धों के वर्णन उपलब्ध होते हैं, उनकी उत्तमता को परखने के लिये कुछ विशिष्ट बातों को देखना होता है , क्योंकि उनके लिये यह आवश्यक नहीं, कि वे केवल युद्धकाल में ही लिखे जाते हैं। उनके लिये कवि प्रतिभा की बात सर्वोपरि होती है। वस्तुतः युद्ध की कविता केवल युद्ध के समय नहीं लिखी जाती है, वह तब भी लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिये, जब युद्ध आरम्भ नहीं होते हैं और उस समय भी, जब युद्ध समाप्त हो जाते हैं। और जैसे युद्ध में जीत उसकी होती है, जो पहिले से ही उसके लिये तैयार रहता है, उसी प्रकार संसार में मान के साथ केवल वे जातियां जीती हैं, जिनका जीवन दर्शन युद्ध पर आधारित है, संघर्ष की वास्तविकता से एकाकार है। सर मोहम्मद इकबाल कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे। व्यक्तित्व से उनका तात्पर्य संघर्ष और तनाव से था।

संसार अभी भी उन कविताओं के पूरे प्रभाव में है, जिन्हें हम सब युद्धकाव्य कह सकते हैं। रामायण युद्ध की कविता है। महाभारत युद्ध का काव्य है। गीता की रचना भी तो युद्ध की पृष्ठभूमि में ही हुई है। मनुष्य के मन के भीतर युद्ध को गौरवपूर्ण भाव के रूप में प्रतिष्ठित करने का सारा कार्य कवियों ने किया है[1]।

पुरानी कविता में युद्ध के लिये उत्साह था। प्राचीन युग में युद्ध की अच्छी कविता वह समझी जानी थी, जो युद्ध का समर्थन करती थी। पुरानी कविता आवेग प्रधान थी। पुरानी कविता उस अडिग मनुष्य की कविता थी, जो चिन्तन कम, कार्य अधिक करता था। पुरानी कविता के वीरनायक श्रीराम थे, जिन्हें शम्बूक वध के समय भी दुविधा नहीं हुई, श्रीकृष्ण थे, जिन्हें अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर भीष्म पितामह पर टूट पड़ने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ[2]। यही पुरानी कविता का स्वर था[3]।

वास्तविक युद्धकाव्य वह है, जो भाव और शैली दोनों से लोगों के बीच असन्तोष उत्पन्न

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : लेख—युद्ध और कविता : आलोचना (जनवरी, १९६६) पृष्ठ ११।

२. वही : पृष्ठ ९-१०।

३. "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः॥"

—गीता : अध्याय २, श्लोक ३७।

करता है। उनके भीतर अन्याय के विरोध की भावना जगाता है और उन्हें विपत्तियाँ झेलने को तैयार करता है४।

वेदना और व्यंग्य -ये युद्धकाव्य की अब रीढ़ बन गये हैं। वेदना उनकी जो देशभक्ति के लिये अथवा विचारधारा के प्रेम में शहीद होते हैं। और व्यग्य की बात यह कि जिन सपनों के लिये सिपाही अपना बलिदान देता है, वे सपने कभी भी पूरे नहीं होते। व्यंग्य इस बात पर भी कि हमें जो शिक्षा दी जाती है, वह शान्ति की शिक्षा है, किन्तु वह शिक्षा हमारे किसी काम नहीं आती५।

वस्तुतः काव्य में युद्धवर्णन के प्रसंग में बाह्यरूपेण अस्त्र-शस्त्र आदि युद्ध की सामग्री, शूरवीरों की साजसज्जा, सेना का आयोजन, योद्धाओं की गर्वोक्तियाँ, पराक्रम से युक्त कार्यकलाप, भयंकर कोलाहल, हाथियों की चिंघाड़ें, घोड़ों की हिनहिनाहटे, मारकाट आदि के चित्र सजीवता के साथ अंकित होते हैं और आन्तरिकरूपेण युद्धवर्णन के समय उद्भूत होनेवाले विभिन्न रसों का आस्वादन होता है। अत जहाँ भी इन बातों एवं परिस्थितियों का आधारित रूप परिलक्षित होता है, वहाँ युद्धवर्णन की प्रक्रिया होती है।

यह ठीक है कि युद्धों के प्रसंगों में यदि किसी मुख्य रस को लिया जा सकता है, तो वह केवल वीररस ही है, परन्तु इसके साथ-साथ रौद्ररस का प्रवेश भी स्वभावतया हो जाता है। वीर रस की चित्रण शैली की जो प्रक्रिया है, उसमें उसके मित्र रौद्र रस का स्थान कभी-कभी नहीं भी आता, परन्तु केवलमात्र युद्ध वर्णन के प्रसग में वीर रस के साथ रौद्र रस का आना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य-सा है। लड़ाई के वातावरण में क्रोध का दमन किसी भाँति नहीं हो सकता, अन्यथा बाहुबल-प्रदर्शन का चमत्कार छिप जाएगा और यदि कोई कवि केवल बाह्यरूपेण अपना कवित्व प्रकट करने का प्रयत्न करेगा, तो उसके काव्य में रससौन्दर्य का वह रूप परिलक्षित नहीं हो सकेगा, जिसकी आकांक्षा एक सहृदय पाठक को प्रायः होती है। यही कारण है, कि—युद्धसामग्री का वर्णन करने में उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलकारों का सहारा लेकर बाह्य तड़क-भड़क में मग्न रहने वाले केशव और पद्माकर उक्त प्रसंगों में वास्तविक रस निरूपण करने में असफल रहे हैं६। अतः युद्धवर्णन करने वाले जिन कवियों ने बाह्य सौन्दर्य पर अधिक बल देते हुए रस भाव की उपेक्षा कर दी है, उनके काव्यों में अमरतत्त्व का प्रायः अभाव ही लक्षित होता है।

---

४. रामधारी सिंह दिनकर : वही पत्रिका : वही लेख : पृष्ठ १२।

५. वही : पृष्ठ १३।

६. डॉ० टीकम सिंह तोमर : हिन्दी वीर काव्य (प्रथम संस्करण) : पृष्ठ ७७।

युद्ध वर्णनों में वीर और रौद्र रस का शास्त्रीय दृष्टि से स्थान

(क) वीर रस विवेचना

कवि जीवन द्रष्टा होता है और विश्व में वह जैसा देखता है, अनुभव करता है, वैसा ही काव्य में वर्णन भी करता है[७]।

श्रेष्ठ कवि द्वारा चित्रित वीर रस में सहृदय का पक्ष अन्य रसों की अपेक्षा अतिशय रूप से अभिव्यक्त होता है। कर्म सौन्दर्य विश्व में सब से अधिक आकर्षणमय होता है। इस रस में इसी का महत्त्व है। यों कहिये कि वीर रस का सारा खेल कर्मसौन्दर्य पर ही आश्रित है[८]। वीर एक ऐसे बाजीगर की तरह है, जो अपने कर्मसौन्दर्य से बुद्धि को तो चमत्कृत करता ही है, उसकी भावधारा में हृदय को भी निमज्जित कर देता है।

वीर और रौद्र के युद्ध का अन्तर

वीर रस के युद्ध में औचित्य होता है और रौद्र रस के युद्ध में अनौचित्य। जहाँ बराबरी का युद्ध होता है, वहाँ औचित्य रहता है, जैसे—राम रावण का युद्ध और जहाँ बराबरी नहीं रहती, वहाँ अनौचित्य। जैसे—भीम दुःशासन का युद्ध[९]।

वीर रस की अनुकूलता

शास्त्रकारों ने वीर रस के अविरोधी रसों में शृंगार, अद्भुत और रौद्र रसों को माना है[१०]। क्योंकि वीर कर्म के फलस्वरूप शृंगार की प्राप्ति होती है, वीर कर्म की असाधारणता अद्भुत का बोध कराती है और आलम्बन का खलत्व रौद्र रस का आस्वादन कराता है[११]।

---

७. बटेकृष्ण : वीर रस का शास्त्रीय विवेचन (प्रथम संस्करण) : पृष्ठ १४।

८. द्रष्टव्य . मिश्रबन्धुकृत 'वीरत्व' नामक निबन्ध।

९. "वीर : स्यादुचिते युद्धे रौद्रस्त्वनुचिते भवेत्।" १४८८। श्री शार्ङ्गदेव सूरिकृत 'संगीत रत्नाकर' सप्तमनर्तनोऽध्याय : पृष्ठ ८४०-४१।

१०. जगन्नाथ : रसगंगाधर : प्रथम आनन (काव्यमाला संस्करण) : पृष्ठ ५६।

११. बटेकृष्ण : वही पुस्तक : पृष्ठ २४-२५।

ऐसे ही बीभत्स रस भी जो विजातीय वर्ग का है, वीर रस का सहायक हो सकता है। वीर के संहार कार्य से रणक्षेत्र में पड़े शत्रुओं के क्षतविक्षत शव सहृदय के लिये जुगुप्सोत्पादक होते हैं, किन्तु वीर के लिये उत्साहवर्धक होते हैं। वीर अपने हाथ से मारे गये जितने अधिक व्यक्तियों के शव देखता चलता है, उतनी ही अधिक प्रसन्नता उसे अपने कार्य की सफलता पर होती चलती है, उसके मन में क्षोभ नहीं उत्पन्न होता। प्रायः कवियों ने वीर रस के साथ बीभत्स रस का वर्णन भी काव्यों में किया है१२। क्योंकि युद्धानन्तर उत्पन्न होने वाली स्थिति में एवं युद्धविराम के पूर्व लक्षणों में रक्तपात अवश्य होता है और रुधिरपान के लिये भूत, बेताल आदि का नर्तन स्वभावतया बीभत्स की योजना करता है।

उत्साह का स्वरूप

युद्ध चित्रण की प्रक्रिया में उत्साहभावना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो कार्य दूसरा न कर सके, उस काय को अवश्य करने में प्रवृत्त होने की बुद्धि उत्साह है१३।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्साह को जो साहसपूर्ण आनन्द की उमंग कहा है, वह बहुत कुछ ठीक प्रतीत होता है१४।

किसी को जीतना है या उपकृत करना है, जीतने या उपकृत करने के लिये उत्साह प्रकट हुआ। जब शत्रु जीत लिया गया या जिसका उपकार करना था, उसका उपकार कर दिया गया, तब उत्साह समाप्त हो जाता है१५।

इस प्रकार वीर के उत्साह की पूर्णता युद्धक्षेत्र में ही निरूपित की जा सकती है। वहाँ उसकी हृदय तरंगे उद्वेलित होती हैं। सामने खड़े अपने शत्रु की हुँकार सुन कर सच्चे वीर के आनन्द का स्वरूप द्विगुणित हो जाता है। वह उस हुँकार से पहिले से भी अधिक उत्साह के साथ आगे बढ़ता है। जब आगे आने वाला प्रत्येक विपक्षी या तो पराजित हो कर भागने लगता है अथवा उसका काम तमाम हो जाता है, तो उस वीर के हर्ष की सीमा नहीं रहती। उत्साह सचमुच एक अपूर्व आनन्द का द्योतक स्थायीभाव है। अतः इस दृष्टि से रणोत्साह एक अद्वितीय एवं पृथकता ग्रहण करने वाली प्रभावोत्पादक अमूल्य वस्तु है।

---

१२. वही : पृष्ठ २५।
१३. "अन्यैरशक्यतयाऽवधृतेऽप्यवश्यकर्त्तव्यता बुद्धिः" —सर्वलक्षण संग्रह : ६५९।
१४. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग १ : पृष्ठ ८ (१९४५ ई० सं०)
१५. बटेकृष्ण . वही पुस्तक : पृष्ठ ४२।

वीर रस के विभावादि का निरूपण

युद्धप्रक्रिया में वर्णित विभावादि का विवेचन भी संक्षेप में कर लेना चाहिये। विभाव के दो पक्ष माने गये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन के भी दो भेद हो सकते हैं—आश्रय और आलम्बन या विषय१६।

काव्य में वर्णित नायक प्रतिनायक को जीतना चाहता है, अतः वही प्रधान रूप से उसके सामने आलम्बन के रूप में होता है। किन्तु नायक के सामने केवल प्रतिनायक ही नहीं रहता, वह युद्ध भी रहता है; जिसमें उसे अपनी वीरता दिखानी होती है। अतः युद्ध ही वस्तुत. कर्म है। नायक जब प्रतिनायक से युद्ध करने चलता है, तब वह यह भी समझ लेता है कि उसे कितना बड़ा कर्म करना है और कैसे करना है। इसके आधार पर वीर रस में प्रतिनायक और कर्म दोनों ही आलम्बन होते हैं१७।

क्योंकि युद्ध में तेज और सामर्थ्य वीर योद्धा का बल है१८। अतः वीर रस की उत्तम परियोजना का स्थान युद्धक्षेत्र ही है। वीर योद्धा की भगिमाओं से अभिव्यक्त शाब्दिक एवं कायिक बल की पराकाष्ठा परिलक्षित होती है। उसके मुख से निकले निर्भयतापूर्ण वाक्यों का, अंग-संचालन तथा स्फूर्तिमयी प्रज्ञा का एक सच्चा रूप अंकित होता है। वहाँ किसी भी प्रकार का प्रदर्शन अथवा कृत्रिम अभिनय नहीं होता। यही कारण है, कि विभाव के गुणों का चित्रण करते समय शास्त्रकारों की दृष्टि प्रधान रूप से युद्धवीर पर ही रही है, क्योंकि विभाव के जितने गुण बताए गये हैं, उन सबका सम्बन्ध राजनीति और युद्ध से है। संगीत रत्नाकर, भाव प्रकाशन आदि के रचयिताओं ने भरत मुनि के अतिरिक्त जिन गुणों का उल्लेख किया है, वे भी युद्धवीर से ही सम्बन्ध रखने वाले हैं१९।

वीरकर्म की पृष्ठभूमि

वीरकर्म की पृष्ठभूमि में उस वीर का कोई निजी स्वार्थ निहित रहता है, अन्यथा उसे अपने गौरव की आकांक्षा क्यों होती? वह युद्धक्षेत्र में जाकर जो-जो कृत्य करता है,

---

१६. विद्याभूषणकृत : साहित्यकौमुदी : पृष्ठ २९।

१७. बटेकृष्ण : वही पुस्तक : पृष्ठ ५४।

१८. "तेजो रणे च सामर्थ्यं बलम्।" —श्री रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' की नमिसाधु विरचित टीका, १५ वाँ अध्याय : पृष्ठ १६४।

१९. बटेकृष्ण : वही पुस्तक : पृष्ठ ६४।

उसके पीछे केवलमात्र उस का निजी सौख्य रहता है। अतः अपने कर्म से उपलब्ध होने वाले आनन्द का भागी भी वह स्वयं ही होता है।

वीरकर्म

वीरकर्म आठ प्रकार के बताए गये हैं२०। जिनका आचारित मार्ग वीरों द्वारा ग्राह्य होता है। इन सबकी अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप युद्धक्षेत्र में ही निरूपित होता है। ये कर्म साधारण न हो कर असाधारण ही होते हैं। ऐसे ही असाधारण कर्म की दुष्करता उत्साह का आलम्बन होती है और उस कर्म की मनोऽनुकूलता, रमणीयता, जटिलता की वृद्धि आदि उत्साह बढ़ाने वाले उद्दीपन होते हैं२१।

अन्य अनुभावादि

आलम्बन में आश्रय के आलम्बनत्व के कारण जो जो चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं, वे आलम्बन के लिये तो अनुभाव रूप में होती हैं, पर आश्रय के लिये जिसका तादात्म्य सहृदय को होता है, उद्दीपन ही होती हैं। इस प्रकार की चेष्टाएँ भावकाल में ही देखी जाती हैं। जैसे—युद्ध में आश्रयपक्ष की किंचित् हार से आलम्बन के नेत्र विस्फारित हो जाना, हमले की तेज़ी बढ़ जाना आदि२२।

वीर रस में ऐसी अनेक परिस्थितियों की भी योजना होती है, जो उद्दीपन का कार्य करनेवाली होती हैं। जैसे—शत्रु के रहस्य का पता लग जाना, युद्ध के लिये नई चाल सूझना, विघ्न का कम हो जाना आदि। युद्ध में बहुत से स्थल ऐसे आते हैं, जिनकी पहले से कोई सम्भावना नहीं होती, पर उनके आ जाने से युद्ध में सहायता मिलती है और उत्साह बढ़ता है। २३।

इन अनुभावादि के विषय में विशेषतया इसीलिये विवरण दिया गया, क्योंकि इनका प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप युद्ध करते हुए वीर में अधिक स्पष्टता से देखा जाता है। जो लोग केवल रक्षात्मक युद्ध में लगे रहते हैं और उसमें उत्साह दिखाते हैं, वे भी तो वीर ही माने जाते हैं। यदि किसी समय कोई अपनी या अपने विचारों की रक्षा के लिये

---

२० द्रष्टव्य : वही : पृष्ठ ७२।

२१. वही : पृष्ठ ७५।

२२. वही : पृष्ठ ७७।

२३. वही : पृष्ठ ८५-८६।

युद्ध करता रहे और उसकी पूर्ति पर शान्त हो जाए, तो उसका उत्साह स्थायी दशा को प्राप्त है—यही माना जाएगा।[२४]

संचारी भाव

नाट्यशास्त्र में वीर रस के जो संचारीभाव[२५] बताये गये हैं, वे सब युद्धवीर में अधिक वैशिष्ट्य के साथ परिलक्षित होते हैं। क्षण-क्षण में शस्त्रचालन में परिवर्तन के कारण और विपक्षी की विभिन्न चेष्टाओं को अपनाने के कारण एवं युद्ध के दाँवपेंच की विविधताओं के कारण, युद्ध करनेवाले वीर में सभी संचारी भावों का अलग अलग वातावरण में व्यक्तीकरण होता है। यह नहीं, कि एक समय में निरन्तर संचारी की एकरूपता ही निरूपित होती हो। वैसे भी तो एक संचारीभाव क्षणिक रूप से इंगित होता है।

वस्तुत वीर रस में उन्माद दो कारणों से संचारी रूप में गोचर होता है। एक तो युद्ध, दान आदि में आश्रय के हृदय के अत्यधिक रम जाने से होता है। आश्रय हर समय मार-काट ही सोचता रहता है। युद्ध में वह मारना ही जानता है और कुछ नहीं। युद्ध में त्वरा का वर्णन प्राय: ऐसा मिलता है, मानो आश्रय उन्मत्त होकर लड़ रहा हो[२६]।

मद की दूसरी स्थिति है, किसी काम में इतना लग जाना कि उसी को ओढ़ना-बिछौना बना लेना। रात और दिन उसी का ध्यान बना रहना। युद्ध में यह स्थिति तब देखी जाती है, जब योद्धा अपनत्व भुलाकर युद्ध में लग जाता है और युद्ध में तलवार आदि चलाना ही उसके ध्यान में रहता है, और बातों का ख्याल वह बिलकुल नहीं करता[२७]।

वीर रस के भेद और युद्धवीर

वीर रस के सब से प्राचीन भेद तीन माने गये हैं—युद्धवीर, धर्मवीर और दानवीर। इनमें युद्धवीर प्रमुख है। कर्म की विविधता, परिस्थितियों की प्रचुरता, सभी प्रकार के संचारीभावों, अनुभावों, उद्दीपनों आदि के दर्शन इसी में सब से अधिक पाये जाते हैं। युद्धवीर में लड़ने की प्रवृत्ति रहती है। शरीर, बुद्धि, धन, मान आदि सभी प्रकार की शक्तियों का प्रदर्शन इसमें होता है। अन्य भेदों में जहाँ लोग मृत्यु के वरण में उत्साह

२४. वही : पृष्ठ १११।

२५. द्रष्टव्य : भरत का नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय : श्लोक १११-११२।

२६. बटेकृष्ण : वही पुस्तक : पृष्ठ १२३।

२७. वही : पृष्ठ १३२।

प्रदर्शित करते हैं, युद्धवीर में वहाँ मृत्यु को जीतने में उत्साह दिखाते हैं। यही इसकी विशिष्टता है, जिसकी छाप हृदय पर सबसे गहरी पड़ती है। इसमें विजेतव्य शत्रु और युद्ध आलम्बन होता है। शत्रु का ऐश्वर्य, शक्ति, उसकी चेष्टायें, उक्तियाँ आदि उद्दीपन होती हैं। मुख पर प्रसन्नता की लाली छाना, भुजाओं का फड़कना, आश्रय की उक्तियाँ तथा अन्य चेष्टाएँ, जिनसे उत्साह की अभिव्यक्ति होती है, अनुभाव होती हैं।

रौद्ररस-विवेचना

युद्ध प्रसंगों में वीर रस के अतिरिक्त जिस दूसरे रस को लिया जाता है, वह है रौद्ररस। अतः यहाँ रौद्ररस का विवेचन भी अपेक्षित है।

क्रोधसहित सर्वेन्द्रिय का औद्धत्य ही संग्रामहेतुक रौद्ररस है[२८]। रौद्ररस में क्रोध के स्थायित्व के साथ सबसे बड़ी बात जो होती है, वह है सभी इन्द्रियों का वेग चांचल्य और यही चंचलता युद्ध का हेतु बन कर सम्मुख आती है। यही कारण है कि अन्य स्थलों के बजाय युद्धक्षेत्र में प्रदर्शित होने वाला क्रोधपूर्ण वातावरण रौद्र की सृष्टि करने में अधिक उपयुक्त होता है। अन्य प्रसंगों में प्रकटित रौद्र में वाग्वाण छोड़े जाते हैं और सग्राम में वाग्वाण तो छूटते ही हैं, उनके साथ असली वाणों की भी वर्षा होती है।

आरक्त नेत्र, भृकुटि भंग, दाँत अथवा ओंठ चबाना, हथेली मलना, निश्वास, स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, हाथ पीटना, बाहें ऊपर चढ़ाना, मूँछे ऐंठना, पुट्ठे पीटना, ललकारना, प्रहार करना, पीड़ा देना, छेदना, हरण कर लेना आदि जितने भी अनुभाव रौद्र-रस के गिनाये जाते हैं, उन सबकी प्रबल व्यंजना का वास्तविक रूप युद्ध में देखा जाता है। क्योंकि शत्रु का आभिमुख्य। पूर्णरूपेण युद्धस्थल पर ही हो सकता है, अतः रौद्र रस की चामत्कारिक अभिव्यंजना का स्थान केवल युद्ध का वातावरण है।

वीर रस से इसका अन्तर

रौद्र तथा वीर रस में आलम्बन, उद्दीपन तथा सचारीभावों की समानता होते हुए भी कुछ ऐसी असमानताएँ हैं, जिनके आधार पर दोनों की पृथकता बोधित होती है। वीर का स्थायीभाव उत्साह है और रौद्र का क्रोध। रौद्र में स्वेद, वदन-नयनादि की रक्तता आदि अनुभाव प्रकट रहते हैं। किन्तु युद्धवीर में इनका प्रस्फुटन नहीं होता। युद्धवीर में अमर्ष की झलक पाई जाती है, किन्तु क्रोध जिस प्रकार पाशविक, भावात्मक

२८. डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित : रस सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण : पृष्ठ ३४९ (प्रथम संस्करण)।

तथा बौद्धिक तीन प्रकार का हो सकता है, उसके समान उत्साह पाशविक नहीं होता। क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है, किन्तु उत्साह विवेक का त्याग नहीं करता[२९]।

प्रबन्धकाव्यों में युद्धवर्णन की प्रक्रिया का वैशिष्ट्य

वीरता युद्ध में सबसे जल्दी प्रकट होती है। इसलिये प्रबन्धकाव्य में युद्ध का वर्णन वही उत्तम होता है, जिसमें उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाएँ प्रकट होती रहती हैं। केवल वाणों की बौछार, तोपों का गर्जन, लोथों पर लोथों का गिरना, अनेक प्रकार के युद्धोपकरणों का नामोल्लेख आदि से युद्ध का सम्यक् चित्रण नहीं हो सकता। प्रबन्धप्रेमी सहृदय वाणों की बौछार के कोरे नाम से सन्तुष्ट नहीं होता, वह यह भी देखना या सुनना चाहता है कि इस बौछार ने क्या और कैसे गुल खिलाए। परस्पर घात-प्रतिघात से एक दूसरे के क्षति लाभ का विवरण भी प्रतिक्षण अपेक्षित है। तभी युद्धवर्णन में कथा का प्रवाह धारा रूप में बना रहता है और युद्धवर्णन भी कथा का अंश हो जाता है।

प्रबन्ध की विस्तृत भूमि में युद्ध सम्बन्धी मन्त्रणा, योजना, आक्रमण, प्रणाली आदि के चित्रण के लिये भी पूरा अवकाश रहता है, जिनसे युद्ध की गतिविधि का पता तो चलता ही है, साथ ही चरित्र विकास का अवसर भी पूरा रहता है। और इस प्रकार के स्थल सुन्दर रूप में इन्हीं प्रबन्धकाव्यों में ही आ सकते हैं। प्रबन्ध की बड़ी परिधि में राजनीति और रणनीति की जैसी सुन्दर और विस्तृत योजना चित्रित की जा सकती है वैसी मुक्तक के संकुचित क्षेत्र में नहीं। कर्म और मार्गावलम्बन की लोकभावना का सच्चा रूप तो प्रबन्ध में ही देखने को मिलता है। मुक्तकों में जहाँ कहीं इस प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण पाया जाता है, वहाँ प्रख्यातवृत्त के पात्रों के ग्रहण से ही रोचकता आती है[३०]।

इसमें युद्ध का कारण या तो राज्यविस्तार की भावना होती है या किसी को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति होती है। ऐसे अवसरों पर वंश, जातिगौरव और धर्म को आगे रख कर युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। इसकी एक स्थिति और होती है, जिसमें बदला लेने की भावना से आक्रमण किया जाता है[३१]। अतः प्रबन्धकाव्यों के अतिरिक्त मुक्तकों में भी जहाँ कहीं युद्धवर्णन मिलते हैं, वहाँ युद्धनायक की दृष्टि से ही इनका महत्त्व होता है, क्योंकि ये नायक वस्तुतः प्रबन्धकाव्यों के समान होते हैं।

---

२९. वही : पृष्ठ ३६६-३६७।

३०. बटेकृष्ण : वही पुस्तक : पृष्ठ ८७।

३१. वही : पृष्ठ १९३-१९५।

हिंदी तथा बंगला : भाषागत विशेषताएँ

राधाकृष्ण सहाय

आर्य भाषा किस प्रकार विभिन्न परिवर्तनों के बीच गुजरती हुई आधुनिक भाषाओं का स्वरूप ले सकी, इसकी विवेचना यहाँ हमारा अभीष्ट नहीं। विकास-क्रम में जो भाषागत सूक्ष्म भेद प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर भाषा-वैज्ञानिकों ने आर्य-भाषा समूह को भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित किया है। भाषागत इसी भेद के आधार पर भारत में आर्यों के दो बार आने की कल्पना की गई है। स्व० रमा प्रसाद चन्द ने इसी भाषा-भेद के कारण नृतत्व-विद्या के आधार पर आर्यों के दो समूह के मत का आंशिक समर्थन किया है। आभ्यंतर और बाह्य-भाषा समुदाय के संबंध में उन्होंने यह प्रचारित किया है कि आभ्यंतर भाषा समुदाय वाले लम्बशीर्ष वालों के वंशज हैं और मध्यम शीर्षवालों की सतान बाह्य भाषा समुदायवाले हैं। यह मत पूर्णतया आनुमानिक हो सकता है, लेकिन भाषाओं में पाये जाने वाले भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उपलब्ध सामग्री के आधार पर भाषा-वैज्ञानिकों ने यह भाषा-भेद प्राकृत स्तर से ही निर्देशित किया है। अपभ्रंश तक आते-आते इन भेदों को स्थिर किया जाता है। शौरसेनी अपभ्रंश और मागधी अपभ्रंश के भेद के आधार पर ही क्रमश अलग-अलग हिन्दी और बंगला का उद्भव माना गया है।

यहाँ संक्षेप में तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दी और बंगला भाषाओं की निजी स्वभाव मूलक मुख्य-मुख्य विशेषताओं का परिचय हमारा अभीष्ट है।

ध्वनि-तत्त्व

दोनों भाषाओं की अधिकांश ध्वनियाँ परम्परागत भारतीय आर्य-भाषा के ध्वनि-समूह से प्राप्त हैं, परन्तु बंगला की तुलना में हिन्दी में इन ध्वनियों का स्वरूप अपेक्षाकृत सुरक्षित है तथा इनकी संख्या भी अधिक है। परंपरागत ध्वनियों की संख्या तेरह है किन्तु प्रयोग की दृष्टि से क्रमशः हिन्दी में आठ (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ) तथा बंगला में छः (अ, आ, इ, उ, ए, ओ) बच रही हैं। दोनों ही भाषाओं में कुछ नवीन ध्वनियों का विकास हुआ है। हिन्दी में 'ऐ' तथा 'औ' का संयुक्त स्वरों से मूल स्वरों में विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त, हिन्दी में अरबी-फारसी और अंग्रेज़ी से क्रमशः नवीन ध्वनियाँ—क़, ख़, ग़, ज़, फ़ तथा ऑ गृहीत हुई हैं। बंगला में एक नयी ध्वनि 'अऽा' का विकास हुआ है। इस प्रकार हिन्दी ध्वनि-समूह की संख्या सोलह होती है और बंगला की सात।

हिन्दी तथा बंगला की व्यंजन ध्वनियाँ भी परंपरागत भारतीय आर्य भाषा से प्राप्त हैं। दोनों ही भाषाओं में प्रयोग की दृष्टि से कुछ वर्ण ध्वनियाँ निरर्थक हैं, यथा—ङ्, ञ्, ण्। बंगला में कुछ अन्य वर्ण ध्वनियाँ भी प्रयोग में नहीं आतीं, यथा—दंत्य 'स', ओष्ठ्य 'व', संयुक्त 'क्ष' और अंतस्थ 'य'।

हिन्दी तथा बंगला की विशेषताएँ मुख्यतया ध्वनिगत हैं। हिन्दी में ध्वनियों का जो नपा-तुला और एक सुनिश्चित रूप पाया जाता है, वह बंगला में अनुपलब्ध है। हिन्दी में स्वर बिल्कुल स्पष्ट हैं, बंगला में या तो अस्पष्ट हैं अथवा परिवर्तित। हिन्दी में स्वर-ध्वनियों का परिवर्तन सरल है, बंगला में दुरूह नियमों में बंधा है। बंगला की ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई है, हिन्दी की ध्वनियों का उच्चारण सरल है। परिणामतः हिन्दी विदेशी भाषाओं की अनेक ध्वनियों को ज्यों का ज्यों आत्मसात कर सकी है, जो बंगला के लिये संभव नहीं हो सका है। उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी में 'अ' अर्द्ध अवृत्त मुखी मध्य स्वर है; बंगला में लुंठित निम्न-मध्य-पश्च स्वर है। बंगला का 'अ'-कार कभी ह्रस्व नहीं होता। बंगला में 'अ' एक स्वतंत्र स्वर है जो हिन्दी से भिन्न है। उदाहरणार्थ हिन्दी 'कलम' शब्द का उच्चारण बंगला में 'क'ल'म' के रूप में किया जाएगा; क्योंकि बंगला में 'आ' स्वर सामान्यतया ह्रस्व रूप में व्यवहृत होता है। बंगला में 'अ'-कार का उच्चारण मुख्यतया दो प्रकार से होता है :

१. अधिकांशत अंग्रेजी Law, all, caught की भांति, यथा—कथा (कॉथा), चला (चॉला), अधीर (ऑधीर) आदि। हिन्दी में इस प्रकार की ध्वनि के लिए 'आ' का प्रयोग होता है।

२. कहीं-कहीं 'अ'-कारांत वर्ण 'ओ' कारवत् उच्चरित होता है। साधारणतः परवर्ती अक्षरों के अन्त में 'इ' या 'उ' ध्वनि (ह्रस्व या दीर्घ) या 'इ'-कारांत या 'उ'-कारांत व्यंजनवर्ण के बाद में रहने से, अथवा अत्यस्थ 'य' और संयुक्त 'क्ष' व्यंजनवर्ण के बाद में रहने से पूर्ववर्ती 'अ'-कार 'ओ'-कार में परिवर्तित हो जाता है, यथा—अति (ओति), घड़ी (घोड़ी), अंगुलि (ऑगुलि), गण्य (गोण्य), लभ्य (लोभ्य), अक्षर (ओक्षर), कक्ष (कोक्ष) आदि।

इसी प्रकार स्थान-विशेष से क्रिया-पद में 'अ'-कार पुनः 'ओ'-कार में बदल जाता है किन्तु, भूतकालिक क्रिया 'कर' अविकृत रहता है, यथा—'आमि करि (कोरि)', लेकिन, 'से करे'।

पुनः 'अ'-कार का बंगला में एकाक्षर शब्द भी दीर्घ रूप में उच्चरित होता है, यथा—बल (बोल), कर (कोर)। कितने ही अन्य पदों में भी 'अ'-कार का उच्चारण 'ओ'-कारवत् होता है, यथा—काल (कालो), भाल (भालो), बड़ (बड़ो), छोट (छोटो) आदि।

बंगला में 'आ' कहीं-कहीं दीर्घरूप में उच्चरित होता है और सामान्यतया 'आ' का उच्चारण ह्रस्व रूप में होता है, यथा—राम' और 'रामा'। प्रथम में 'आ' दीर्घ, दूसरे में 'आ' ह्रस्व रूप में उच्चरित होता है। हिन्दी में यह सदैव दीर्घ रहता है।

बंगला में 'अऽा' एक नवीन विकसित स्वर है। बंगला वर्णमाला में इस ध्वनि को स्थान नहीं मिला है और साधारणतः इसके बदले 'ए'-कार का प्रयोग किया जाता है, यथा—एक (अऽाक), एकीश (अऽाकुश) आदि। परतु, भाषाविदों ने इसके अस्तित्व को स्वीकारा है। डा० चटर्जी के अनुसार बगला का यह नया स्वर 'निम्नावस्थित सम्मुखस्थ स्वर ध्वनि' है। भूतकालिक क्रिया-पद जिनके प्रारम्भिक अक्षर 'ए' होते हैं वे सामान्यतया संज्ञा रूप में 'अऽा' में बदल जाया करते हैं, यथा—'विक्रय' से 'बेंचा' (बऽाँचा), 'सिचन' से 'सेंचा' (सऽाँचा), 'चीत्कार' से 'चेंचानो' (चँऽाँचानो)।

बगला में सर्वाधिक चंचल स्वर है 'इ' तथा 'ओ'। इ-कार जहाँ 'आ'-कार के साथ आता है, वहाँ तुरत 'ए' में परिवर्तित होता है, यथा—हिसाब (हिसेब), मिठाइ (मेठाइ), बिड़ाल (बेड़ाल), बिकाल (बेकाल), निशान (निशेन) आदि। इसी प्रकार सामान्यतः 'उ'-कार 'ओ'-कार में परिवर्तित होता है, यथा—पट+उआ=पटुआ—पोटो। शब्द के शुरू में यदि 'आ' रहना है तो वह 'ए'-कार में परिवर्तित हो जाता है, तत्पश्चात् 'ओ'-कार में बदल जाता है, यथा—माठुआ—मेठो, काठुआ—केठो आदि।

बगला में 'ओ'-कार के प्रति एक विशेष प्रवृत्ति लक्षित होती है। बंगला का 'अ' हिन्दी 'अ' तथा 'ओ' के बीच का है। थोड़ी भी छूट मिलने से 'अ' 'ओ' में बदल जाता है। कुछ ऐसी ही दशा 'इ' स्वर की भी है। वस्तुतः बंगला स्वर वर्णों के उच्चारण-विकार के मूल में 'इ' तथा 'ओ' मुख्य रूप से पाये जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ने इन दोनों स्वरों की उपमा 'शत्रु' से दी है।

बंगला में 'उ'-कार भी उच्चारण-विकार का कारण है। 'अ'-कार के स्थान पर 'उ'-कार का आगमन होता है, यथा—पुतल (पुतुल), पुखर (पुखुर)। तीन अक्षरों के शब्द में 'इ'-के स्थान पर मध्यवर्ण 'आ' 'उ'-कार में बदल जाता है, यथा—उड़ानि (उड़ुनि); पिटानी (पिटुनी)।

ए' स्वर सामान्यतया 'ऐ' स्वर के बाद आए हुए 'आ' की जगह लेता है, यथा—कैलास (कैलेश), तैयार (तोयेर), अभ्यास (अभ्येस), कन्या (कन्ये) ।

बंगला में साधारणतः एकाक्षर शब्द दीर्घ रूप में ही उच्चरित होते हैं, यथा—दिन (=दिवस), दीन (=दरिद्र), दिन (=दिउन अर्थात् दीजिए), दीन (=मुसलमान धर्म) आदि शब्द एक ही तरह उच्चरित होते हैं। इन शब्दों के उच्चारण में स्वर दीर्घ हो जाता है।

बंगला में 'ऐ' एक यौगिक स्वर-ध्वनि या सान्ध्याक्षर है जो 'अ'+'इ' ध्वनियों के द्रुत उच्चारण का परिणाम माना जाएगा, यथा—ऐक्य, चैतन्य, धैर्य, वैदेशिक क्रमशः 'ओइक्को', 'चोइतन्नो', 'धोइरजो', 'बोइदेशिको' रूप में उच्चरित होते हैं। संस्कृत में 'ऐ' का उच्चारण है, 'आ'+'इ'=आइ', इसीलिये संस्कृत में नै+इक=नायक (अर्थात् नाइ+अक=नाइयक, नायअक, नायक) होता है। इसके विपरीत, हिन्दी में 'अ'+'ए'='ऐ' रूप में पाया जाता है जो (तथा 'औ') अब संयुक्त स्वर न रहकर मूलस्वर में परिवर्तित हो गए हैं।

इसी प्रकार बंगला की व्यंजन-ध्वनियों के उच्चारण में भी असंगतियाँ पायी जाती हैं। सामान्यतः शब्द के मध्य या अंत में आनेवाला महाप्राण वर्ण अल्पप्राण के रूप में उच्चरित होता है, यथा -मुख (-मूक्), देखते (-देक्ते), रथयात्रा (-रत्जात्रा), माथा (-माता) हिन्दी में अल्पप्राण या महाप्राण वर्णों का उच्चारण उन्हीं के अनुरूप होता है। यहाँ तक कि हिन्दी की महाप्राण ध्वनियाँ 'घ', 'झ', 'ठ', 'ध' और 'भ' पूर्णतया सुनिश्चित ध्वनियाँ हैं जो बंगला में नहीं पायी जातीं।

तालव्य सघोष अर्द्धस्वर 'य' बंगला में अल्पप्राण सघोष स्पर्श संघर्षी व्यंजन 'ज' के रूप में बदल गया है। 'य' का प्राचीन रूप—इअ है जो हिन्दी में सुरक्षित है किन्तु बंगला में 'य' तथा 'ज' में भेद नहीं रह गया है, यथा—यात्रा (-जात्रा), यायावर (-जाजावर)।

नियमतः किसी भी व्यंजनवर्ण के बाद में 'य' के आने से 'य' का रूप परिवर्तित होकर आधा 'य' हो जाता है (यथा—सत्-य=सत्य)। किन्तु, बंगला में व्यंजन के बाद 'य' के रहने से तथा य' के पूर्व 'अ'-कार रहने से उसका उच्चारण क्रमशः 'अ'-कार और 'ओ' कार में बदल जाता है, यथा—पथ्य (-पोत्थो), हत्या (-होत्ता)।

कंठ्योष्ठ्य सघोष अर्द्धस्वर 'व' बंगला में अल्पप्राण, सघोष, ओष्ठ्य स्पर्श व्यंजन 'ब' में परिणति पाता है, यथा—वाण (-बाण), वाष्प (-बाष्प)। संयुक्त वर्णों में 'व' की स्थिति पाई जाती है परंतु 'व' का उच्चारण नहीं होता, बल्कि पूर्वस्थित व्यंजन ही दुहराया जाता है, यथा—पक्व (-पक्क), अद्वय (-अद्दय), स्वत्व (-सत्त), द्वित्व (-दित्त)। यह उल्लेख्य है कि अक्षर के शुरू में आया हुआ 'व' अनुच्चरित रह जाता है। डा० चटर्जी

के मतानुकूल अन्तस्थ 'व' बंगला वर्णमाला में नहीं होने पर भी यह ध्वनि—'ओव' रूप में रूपान्तरित होकर तद्भव तथा विदेशी शब्दों में पाई जाती है, यथा—रेलवे (-रेलओये); एडवर्ड (-एड्ओयार्ड), वास्ते (-ओयास्ते)।

बंगला में ऊष्म वर्गी ध्वनियों—'स' 'श' 'ष' में केवल एक अघोष संघर्षी तालव्य 'श' बच रहा है। बाकी दो का लोप हो चुका है। हिन्दी में संघर्षी वर्त्स्य अघोष ध्वनि 'स' का व्यवहार भी प्रचलित है।

बंगला में कहीं-कहीं अनुनासिक उच्चारण का भी लोप हो गया है, यथा—काँटा (-काटा), पाँक (-पाक), आँहार (-आहार)। इसके विपरीत, हिन्दी में उदासीन स्वर के अतिरिक्त अन्य सभी स्वरों में अनुनासिक स्वरों का भी प्रयोग होता है।

बंगला में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ विभिन्न रूपों में परिवर्तित होती हैं, यथा—'ह' महाप्राण ध्वनि या तो लुप्त हो गयी है अथवा कण्ठनालीय बन गयी है। उदाहरणार्थ बंगला में 'ह' तथा अन्य सघोष महाप्राणों का शब्द के प्रारंभ में आने पर, पूर्ण और स्पष्ट उच्चारण पाया जाता है, किन्तु आन्तर्वाचिक या अन्तिम होने पर 'ह' का लोप हो जाता है तथा सघोष ऊष्म में बदल जाता है, यथा—हात (-आत), हय (-ओय), बहिर (-बाइर), बहिन (-बोन) आदि।

इस प्रकार बंगला के उच्चारण संबंधी विकारों को देखते हुए निष्कर्ष रूप में कहा जाएगा कि हिन्दी का ध्वनि-समूह विशेष तौर पर परम्परागत या भारतीय है। उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी की ध्वनियाँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक सरल है। डा० चटर्जी हिन्दी ध्वनियों की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—"हिन्दी (हिन्दुस्तानी) की एक और बहुत बड़ी विशेषता उसकी ध्वनियों का नपा-तुला एवं सुनिश्चित रूप है। उसके स्वर बिल्कुल स्पष्ट हैं, तथा स्वर-ध्वनियों का परिवर्तन दुरूह नियमों से बद्ध नहीं है... । कुछ ऐसी आवश्यक ध्वनियाँ भी हैं जो हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं थीं।"

इसके विपरीत, बंगला ध्वनियों तथा ध्वनि परिवर्तनों का विशद विवेचन डा० चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'ओरिजिन एण्ड डेवलप्मेन्ट आव बंगाली लैंग्वेज' (पृ० ३१४-४०२) में प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि बंगला में कुछ विशिष्ट उच्चारण रीतियाँ हैं जो आधुनिक बंगला के रूप को स्वर-ध्वनि के क्षेत्र में अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं से सर्वथा भिन्न करती हैं। संस्कृत में ये विशेष रीतियाँ एकदम अज्ञात थीं। फलतः संस्कृत वैयाकरणों ने इन उच्चारण रीतियों की कोई आलोचना नहीं की है। साधारणतः बंगला के व्याकरण संस्कृतावलम्बी हैं, परंतु आधुनिक बंगला भाषा की गति को सम्यक् रूप से समझने के लिए

तथा आधुनिक-युग में आगत बंगला अर्द्ध-तत्सम (अर्थात् विकृत या अशुद्ध रूप में उच्चरित और परिवर्तित संस्कृत) शब्दों के परिवर्तनों को हृदयंगम करने के लिये बंगला की विशिष्ट उच्चारण रीतियों का जानना अत्यंत आवश्यक है। इन अनेक परिवर्तनों को डा० चटर्जी ने निम्नलिखित श्रेणियों में नियमबद्ध किया है :

स्वर-संगति ;
अपिनिहिति ,
अभिश्रुति ,
और य-श्रुति ।

प्रथम प्रकार के परिवर्तनों में डा० चटर्जी के अनुसार शब्द मध्यस्थित स्वर ध्वनियों में सांमजस्य या संगति लाने की चेष्टा पायी जाती है, यथा—देशी—दिशि (अर्थात् 'इ'—कार के साथ संगति लाने के लिये 'ए'—कार का 'इ'—कार में परिवर्तन)। बंगला शब्दों में अभ्यंतरस्थित स्वर ध्वनियों के बीच आपस में एक प्रकार का आकर्षण पाया जाता है। फलतः उच्चावस्थित स्वर 'इ' 'उ' के प्रभाव से मध्यवस्थित स्वर 'ए' 'ओ' एवं निम्नावस्थित स्वर 'आ' 'अ' क्रमश 'इ', 'उ' एव 'ए' 'ओ' में परिवर्तित होते हैं। मध्यस्थित स्वर 'ए' 'अया' तथा 'ओ', 'अ' के प्रभाव से उच्चावस्थित स्वरों में परिवर्तन नहीं होता। किन्तु, 'अ' के प्रभाव हेतु उच्चावस्थित स्वर 'इ' 'उ' मध्यस्थान में उतर कर क्रमशः 'ए' 'ओ' में बदल जाते हैं। इस रूप में बंगला के क्रियापदों एव अन्यान्य पद के रूपों में भेद घटित होता है। इस नियम के अनेक अपवाद भी बतलाए गए हैं।

दूसरे प्रकार के परिवर्तन को एक प्रकार का वर्ण-विपर्यय माना जा सकता है, यथा—आजि—आइज ; कालि—काइल , ग्रंथि—गन्ठि—गाँठि—गाँइठ , साधु—साउध, साइध आदि। इसमें 'इ'—कार या 'उ'—कार व्यंजन के पहले आ जाते हैं। शब्द के बीच या अत में 'इ'—कार या 'उ'—कार का पूर्वस्थित एव आश्रित व्यजन के पूर्व आ जाने से ये परिवर्तन घटित होते हैं। डा० चटर्जी इसे मात्र वर्ण विपर्यय न मानकर स्वर-आगम भी मानते हैं।

तीसरे प्रकार का परिवर्तन अपिनिहिति के प्रसार के फलस्वरूप घटित होता है। अपिनिहिति के फलस्वरूप जो 'इ' या 'उ' पहले चला आता है वह पूर्वस्थित अक्षर 'अ' या 'आ' अथवा अन्य स्वरों के निकट बैठकर संयुक्त स्वर या संध्याक्षर की सृष्टि करता है। इसमें शब्दों के बीच में स्थित 'इ'—कार या 'उ'—कार होने पर यह परिवर्तन पूर्व स्वर के साथ

मिल जाया करता है, यथा—आजि—आइज—एज ; कालि—काइल—केल ; साधु—साउधू—साइध्—सेध् आदि।

चौथे प्रकार का परिवर्तन धातु के मूल स्वर वर्णों के अवलंबन के आधार पर घटित होता है। डा० चटर्जी का मत है कि इन परिवर्तनों का मूल बंगला में नहीं मिलता बल्कि प्राकृत के बीच होता हुआ भारत की आदि आर्य भाषा (संस्कृत) में इसका मूल पाया जाता है, यथा—चलति—चलदि—चलइ—चले (हिं० चलता), चालयति—चाल्युति—चालेति—चालेदि—चालेइ—चोल (हिं० चलाये) आदि।

इस प्रकार चौथा परिवर्तन हिन्दी में भी पाया जाता है परन्तु ऊपर के तीनों परिवर्तनों को बंगला की विशेषता के रूप में ग्रहण किया गया है।

सक्षेपत बंगला ध्वनियों और उच्चारण पर विचार करने के उपरांत यह निष्कर्ष असंगत नहीं होगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से बंगला में शब्दों के तत्सम रूप नहीं पाये जाते, क्योंकि बंगला की विशिष्ट उच्चारण-रीति तत्सम के रूप को विकृत कर देती है। यह कथन यहाँ तक सत्य है कि बंगला में आगत नए संस्कृत शब्द भी किसी नियम का पालन नहीं करते। फलतः हिन्दी के ठीक विपरीत बंगला में लिखा एक तरह से जाता है और पढ़ा दूसरो तरह से अर्थात् संस्कृत लिखी जाती है, किन्तु पढ़ी जाती है बंगला।

बंगला की उत्त्वता या श्रेष्ठता का प्रमाण एक यह भी माना जाता है कि उस भाषा की ध्वनि तथा अंकन पद्धति में सामंजस्य हो। कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतया हिन्दी में जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। बंगला में लिखा जाता है—'काल' 'भाल' और पढ़ा जाता है 'कालो', 'भालो'। इसी तरह लिखा जाता है, 'व्यय' किन्तु पढ़ा जाता है—ब्याय , लिखा जाता है, 'गर्दभ' और 'पढ़ा जाता है' गर्धोब। 'सह्य' बंगला में 'सोज्झो' पढ़ा जाता है। बंगला में ऐसी असंगतियों की भरमार है, जिसका परिचय ऊपर वर्णित बंगला की उच्चारण-रीति से प्राप्त होता है। अन' ध्वनि और उच्चारण में सामंजस्य नहीं होने के कारण बंगला की अंकन-पद्धति भी हिन्दी की तुलना में कठिन तथा अवैज्ञानिक है। इसके विपरीत ध्वनि, उच्चारण तथा अंकन-पद्धति में बंगला की तुलना में हिन्दी में अधिक सामंजस्य है।

रूपतत्त्व

मुख्यत' संस्कृत के वातावरण में इन भाषाओं के जन्म और विकास के कारण हिन्दी और बंगला के पदों का विकास अधिकांश समान है। दोनों ही भाषाओं के विकास में

उसके अपने देशज उपकरणों और उपादानों का उपयोग हुआ है। दोनों ही भाषाओं की पद-रचना पद्धति समान है, जिसे इस रूप में देखा जा सकता है :

१. अयोगात्मक—(संज्ञा) पानी, नदी ; (क्रिया) पढ़, हँस, बोल ।

२. अश्लिष्ट योगात्मक—जन-ता, प्रभु-ता ।

३. श्लिष्ट योगात्मक—नैतिक, भौतिक ।

४. प्रश्लिष्ट योगात्मक—दोनों ही भाषाओं में इसके उदाहरण नहीं पाए जाते ।

उपर्युक्त चारों पद्धतियों में हिन्दी और बंगला की दृष्टि से मुख्य हैं—अश्लिष्ट योगात्मक। इस पद्धति में शब्द के आदि, मध्य और अन्त के योग से शब्द निष्पन्न किया जाता है, जिन्हें क्रमशः उपसर्ग, विकरण और प्रत्यय कहा जाता है। अश्लिष्ट योगात्मक के अन्तर्गत दोनों भाषाओं के मुख्य अंतर निम्नलिखित हैं :

हिन्दी में मध्ययोग होता है, यथा—पढ़ना-पढ़वाना , लिखना-लिखवाना , करना-करवाना। हिन्दी में प्रेरणार्थक शब्द मध्य-योग से निष्पन्न किए जाते हैं, जिनसे भाववाच्य या कर्मवाच्य का बोध होता है। बंगला में मध्ययोग से निष्पन्न शब्दों के उदाहरण नहीं पाये जाते। भाववाच्य या कर्मवाच्य के बोध के लिये पृथक् क्रिया-पद का व्यवहार होता है, यथा—पड़ा हय, पड़ा हइलो, पड़ा हइनो, पड़ा हइतेछ आदि। संस्कृत में जिस तरह भूयते, पठ्यते, हस्यते में 'य' के योग से भाववाच्य या कर्मवाच्य का बोध होता है वैसा बंगला में नहीं पाया जाता।

दोनों ही भाषाओं में उपसर्ग और प्रत्यय के योग से शब्द निष्पन्न किए जाते हैं। दोनों ही भाषाओं में तत्सम, तद्भव और विदेशी, इन तीन रूपों में उपसर्ग तथा प्रत्यय पाये जाते हैं। तत्सम उपसर्ग और प्रत्यय दोनों भाषाओं में समान रूप से पाए जाते हैं। परन्तु, तद्भव उपसर्ग और प्रत्ययों की संख्या हिन्दी में अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है। हिन्दी में सामान्यतया निजी उपसर्ग और प्रत्यय जोड़कर शब्द निष्पन्न कर लिये जाते हैं, जब कि बंगला में सामान्यतया अन्य भाषाओं, मुख्यतः संस्कृत से गृहीत शब्दों का ध्वनिभेद अथवा विभक्ति-पदों के योग के साथ प्रयोग होता है। बंगला में उपसर्ग और प्रत्यय हैं जरूर, लेकिन हिन्दी की तुलना में उनका उपयोग कम पाया जाता है।

उपसर्ग

अर्थ की दृष्टि से हिन्दी तथा बंगला के उपसर्गों में बहुत कम अंतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ तत्सम उपसर्ग 'अ' तथा 'वि' के प्रयोग में केवल दोनों भाषाओं के बीच अंतर

पाया जाता है। हिन्दी में 'अ' उपसर्ग केवल निषेधार्थक है, बंगला में निषेधार्थक और प्रकृष्टार्थक भी, यथा—अघोर निद्रा (= घोर निद्रा), अपर्याप्त खेयेछि (= बहुत अधिक खाया है) आदि। इसी प्रकार 'वि' उपसर्ग 'अभाव', 'दूसरा', 'विशेष' अर्थों में पाया जाता है किन्तु, बंगला में यह 'विषम' अर्थ में भी पाया जाता है, यथा—विपरीत काण्ड (विषम काण्ड), विजातीय घृणा (विषम घृणा) आदि।

हिन्दी तद्भव उपसर्गों की सख्या अधिक है और निम्नलिखित उपसर्गों का प्रयोग बंगला में नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ 'अध' (अधकचरा), 'दु' (दुधारा), 'बिन (बिनब्याहा)। कुछ विदेशी उपसर्ग भी बगला में अनुपलब्ध हैं, यथा —'कम' (कमज़ोर), 'खुश' (खुशबू), 'दर' (दरअसल), 'बिला' (बिलाकसूर), 'हम' (हमदर्द), 'हर' (हरघड़ी)।

बंगला में प्रयुक्त होनेवाले कुछ ऐसे उपसर्ग हैं, जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ – अल्पार्थ 'दर' (दर-काँचा, दर पाका), क्षुद्रार्थ 'पाति' (पातिभाँड़, पातिहाँस), व्यतीत अर्थ में 'हा' (हापुत, हाघरिया), प्रत्येक अर्थ में 'फि' या 'फी' (फि-लोक, फि-जन)।

प्रत्यय

प्रत्ययों में भी मुख्य भेद तद्भव प्रत्ययों में है। हिंदी में तद्भव-प्रत्यय की संख्या बगला तद्भव प्रत्ययों से अधिक है। हिन्दी के अनेक निजी प्रत्यय बंगला में अनुपलब्ध हैं, यथा—'अक्कड़' (कृदन्त कर्तृवाच्य—भुलक्कड़), 'आक, आका' (कर्तृवाचक संज्ञा—लड़ाका), 'आका आटा' (तद्धित भाववाचक सज्ञा—सडाका), 'आप, आपा' (कृदन्त भाववाचक संज्ञा—पुजापा), 'आड़ी' (तद्धित कर्तृवाचक संज्ञा—खिलाड़ी), 'आलु' (तद्धित—झगड़ालु), 'आव' (कृदन्त तद्धित भाववाचक संज्ञा—बचाव), 'आवना' (कृदंत विशेषण—डरावना), 'आस, आसा' (कृदत तद्धित, भाववाचक संज्ञा—रुआसा), 'आहट' (कृदंत, तद्धित, भाववाचक सज्ञा—चिकनाहट), 'इन या आइन' (स्त्रीलिंग—मुंशिआइन), 'इयल' (कृदंत, कर्तृवाच्य—अड़ियल), 'ईला' (तद्धित विशेषण—पथरीला), 'एर, एरा' (कृदंत कर्तृवाचक, तद्धित भाववाचक—अंधेर, अंधेरा) 'औटा, औता, औनी' (कृदंत तद्धित संज्ञा—चुकौता, चुकौती, कजरौटा), 'औवल' (कृदंत भाववाचक—बुझौवल), 'का' (कृदत तद्धित—मैका), 'गी' (कृदन्त—बानगी) 'ड़, ड़ी' (तद्धित—टुकड़ा, टुकड़ी), 'टा, टी' (तद्धित—कलूटा, कलूटी), 'ना, नी' (कृदंत तद्धित—घिनौना, घिनौनी), 'पा, पन' (तद्धित भाव वाचक संज्ञा—बुढ़ापा, लड़कपन), 'ब' (तद्धित—अब, जब), 'री' (तद्धित—कोठरी),

'वाँ' (तद्धित—पाँचवाँ), 'वैया' (कृदंत कर्तृवाचक—खवैया), 'सरा' (दूसरा), 'हार, हारा' (होनहार, लकड़हारा), 'हा' (कृदंत कर्तृवाचक, तद्धित गुणवाचक—कटहा)। इसी प्रकार विदेशी प्रत्ययों में 'कार' (तद्धित कर्तृवाच्य—आनकार) प्रत्यय बंगला में उपलब्ध नहीं है।

बंगला के कुछ निजी प्रत्यय ऐसे हैं जो हिन्दी में अनुपलब्ध है, यथ—'इल' (अतीत काल के प्राथमिक रूप में लगाता हैं—चलिल्, खाइल्, बलिल्, चाहिल् किन्तु इनके उच्चारण में भी ध्वनि—विकार आ जाता है, (यथा खेल्, चाइल् आदि) 'इब' (भविष्यत् काल के प्राथमिक रूप में लगता है—करिब, चलिब, पाइब, आइब, देखिब आदि किन्तु यहाँ भी ध्वनि—परिवर्तन से 'अ'—कार 'ओ'—कार में बदलता है), इया' (अपूर्ण क्रिया-पद में लगता है—करिया, बहिया, खाइया, चाहिया आदि जिनका ध्वनि—परिवर्तन से रूप हो जाता है, क'रे, ब'ये, खे'ये, चे'ये), 'इले' (अपूर्ण क्रिया पद में युक्त होना है—चलिले, बहिले, खाइले आदि); 'एर' (संबंध पद में योग होता है—तोमादेर, ओदेर), 'आम, आमो,—म प्रसार से आमि, अमि, ओमि,—म (भाव कार्य या अनुकरणार्थ - पाकाम, पाकामि, छेलेम, छेलेमि, गिलेम, पाजियामि पेजोमो, पेजोमि)। विदेशी प्रत्ययों में 'सइ' (सही) माननसइ, प्रमाणसइ मापसइ), 'गोछ, गोय' (संज्ञा, विशेषण में—लम्बागोछेर, माफारीगोछेर), 'पारा' (विशेषण—चांद पारा) आदि प्रत्यय हिन्दी में प्रयुक्त नहीं होते।

अर्थ की दृष्टि से दोनों भाषाओं के प्रत्ययों में पर्याप्त भेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ 'आ' हिन्दी में स्त्रीलिंग के बोध के लिये प्रयुक्त होता है (यथा माननीया) और बंगला में क्रियावाचक विशेष्य और विशेषण रूप में (यथा—बाँधाहात, हातबाँधा), 'आओ' बंगला में धातु के उत्तर भावार्थ प्रयुक्त होता है (यथा—फालाओ) और हिन्दी में इस प्रत्यय का रूप 'आर' है (यथा - फैलार), 'इया' बंगला में अपूर्ण क्रिया का द्योतक है (यथा—करिया, खाइया, चाहिया) और हिन्दी में इसका प्रयोग संज्ञा से विशेषण, धातु से विशेषण, पुलिंग से स्त्रीलिंग, और धातु से कर्तृवाच्य सज्ञा के लिये होता है (यथा—भोजपुरिया, बढ़िया, चुहिया, ढोलकिया), 'एर' जोड़कर बंगला में संबंध पद बनता है (यथा—समाजेर, आमादेर और हिन्दी में 'आ' जोड़कर निजिक्री विशेषण बनता है (ममेरा, चचेरा, लुटेरा)।

उपसर्ग या प्रत्यय के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि तद्भव उपसर्ग और प्रत्ययों का उपयोग करने में बंगला की तुलना में हिन्दी पृथक अस्तित्व रखती है। हिन्दी की विशेषता इस बात में है कि हिन्दी स्वतः निजी उपसर्ग और प्रत्ययों के सहारे नए-नए शब्द सिद्ध करती है किन्तु बंगला सामान्यतया अन्यभाषाओं (मुख्यतया संस्कृत) से शब्द ग्रहण

करती है और ध्वनि-भेद या स्वर-भेद के सहारे उसका प्रयोग करती है। हिन्दी में बंगला से उपसर्ग या प्रत्यय गृहीत हुए हों, ऐसा कहीं, कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत, डा॰ चटर्जी के अनुकूल हिन्दी से बंगला में गृहीत अधिकांश प्रत्ययों का उल्लेख पाया जाता है।१

वस्तुतः स्थिति यह है कि बंगला में प्रत्यय हैं, लेकिन बंगला उनका उपयोग नहीं करती। इसका मुख्य कारण है स्वरों का अभाव और स्वर वर्णों का अत्यंत चंचल होना। रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं, "पहले ही कहा गया है कि बंगला भाषा में भी प्रत्यय है, किन्तु उनका प्रयोग बहुत कम है और उनके नियमों के बीच उलट-पुलट मचाने को मानो होड़ सी मची होती है।२ इसी प्रकार दूसरी जगह आप लिखते हैं, "कहना होगा कि संज्ञा से विशेषण या क्रिया पद बनाने का कोई सहज उपाय हमारी भाषा में नहीं। इसीलिये बंगला भाषा में अपनी रीति से पाए शब्द गढ़ना प्रायः असाध्य है।"३

(अगले अंक में समाप्य)

१. (दे॰—ओ॰ डी॰ बी॰ एल॰, पृ॰ ६७१—७१४)।

२. पूर्वेइ बलेछि बांगला भाषातेओ प्रत्यय आछे, किन्तु तादेर प्रयोग सकीर्ण, आर तादेर नियमओ व्यतिक्रम पाल्ला चलेछे के हारे के जीते। —बं॰ भा॰ प॰, पृ॰ १०८।

३. विशेष्य विशेषण वा क्रियापदे परिणत करबार सहज उपाय आमादेर भाषाय नेइ ब'लतेइ हय। ताइ बांगला भाषार आपन रीतिते नतून शब्द बानानो प्राय असाध्य।—
वही, पृ॰ १०४।

भोट भाषा में महाभारत को कहानो

सुनीतिकुमार पाठक

संस्कृत भाषा में तिब्बत का नाम भोट देश है। उस देश की भाषा भोट भाषा है। भोट भाषा में बहुत प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुवाद हो चुके हैं। विशेषतया, बौद्धशास्त्र भोट भाषा के कंजुर और तजुर संकलनों में सुरक्षित हैं। प्राचीन भारतीय कथा कृतियाँ वेताल पचीशी, सिंहासन बत्तीसो आदि कथाएँ भोटभाषा में अनूदित हुई थीं। और पाणिनि का व्याकरण, कालिदास का मेघदूत, चाणक्य—नीतिशास्त्र, दंडी का काव्यादर्श, अमरकोष आदि विविध भारतीय ग्रंथ भोट भाषा में मिलते हैं। इसलिये भोट भाषा प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण भण्डार है। ७ वीं ई० से लेकर १५ वीं ई० तक भारत और भोट देश के बीच में जो संपर्क हुआ था वह दोनों देशों की संस्कृति में परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव प्रकट करता है। उस प्रभाव का परिचय अभी तक भोट भाषा, भोटशिल्प, भोटिया लोगों के धम, और जीवन में मिलता है। परंतु भारत में बहुत से विजातीय लोगों के आगमन होने के कारण वह प्रभाव इतना स्पष्ट नहीं है। फिर भी भारत की उत्तरी पहाड़ी जातियों के जीवन में भारत और भोट देश के सम्मिलन से एक मिश्रित और विचित्र सस्कृति का विकास हुआ।

यहाँ भोट भाषा में लिखी महाभारत की कहानी और उसकी आलोचना प्रस्तुत की जा रही है। भोट भाषा में महाभारत ग्रंथ का अनुवाद हुआ था, ऐसो किंवदंती प्रचलित है। लेकिन वह अनुवाद अभो नहीं मिलता है। कहा जाता है कि भोट देश की आम जनता बौद्ध है। उनलोगों ने महाभारत की कहानी में युद्ध के विवरण को पसंद नहीं किया। और उस अनूदित ग्रथ को ब्रह्मपुत्र नदो में फेंक दिया। उसका अनुवाद-काल लगभग १२वीं ई० सदी है। इस किंवदंती के सत्यासत्य की जांच करना आज भी कठिन है। जो हो, महाभारत को कहानी से भोट जनता अपरिचित नहीं थी। यह बात रिनछेन दूपल् ने स्पष्ट कर दी है[1]। रिनछेन दूपल् ने शाक्यपंडित प्रणीत सुभाषितरत्ननिधि—टीका

---

१. रिन-छेन दूपल् सक्य-प लामा थे। उनका जीवनकाल लगभग १५ ई० सदी था। उनके समसामयिक विद्वान धर्मगुरु ल्ह् बसोद् नमस् ऽोद् सेर ई० १४०५ से १४२६ वर्ष तक ग्युम् बसूक विहार में मठाध्यक्ष थे। वह विहार स-स्क्या विहार के द्वारा अनुशासित एक समृद्धिशाली विहार था। रिन छेन दूपल् उस विहार में तत्त्वावधायक और प्रशासक के पद पर अधिकारी थे। लेगस्-बशद् ऽग्रेलवा की टीका उनकी गंभीर पंडिताई और नीतिविज्ञान की चेतना का महत्त्वपूर्ण परिचय है।

तथा लेगस्-बशद् स्प्रेल्-बर लिखते समय महाभारत की कहानी प्रस्तुत की है। यह कहानी इस प्रकार है :—

बहुत पुराने जमाने में जब मनुष्य की आयु दस हजार साल की होती थी, उस समय व्यास नाम के एक राजा थे। उनके ऋषितुल्य चरित्र का कारण उनका राजर्षि होना कहा जाता था। व्यास छोटी उम्र में ही राजगद्दी पर बैठे थे। उनका बड़ा लड़का पांडु था। और उनकी छोटी रानी से भी एक लड़का पैदा हुआ था, जिसका नाम धृतराष्ट्र था। छोटी रानी एक ब्राह्मण कन्या थी। वयस्क होने पर बड़े लड़के पांडुने राज्य का शासन भार सँभाला।

जब धृतराष्ट्र ने देखा कि उनके कोई पुत्रादि नहीं हो रहा है तब उन्होंने व्यासजी से संतान के लिए प्रार्थना की। व्यासने आशीर्वाद दिया "तुम्हारी पत्नी गांधारी शत पुत्रों की जननी होगी। उसके दस महीने के बाद ही गांधारी ने एक गोलाकार मांसपिंड प्रसव किया। धृतराष्ट्र ने अचरज से अपने पिता के आशीर्वाद को व्यर्थ माना। ऐसा सोचते ही वह मांसपिंड शतधा खंडविखंड हो गया। उन टुकड़ों को लेकर रख देने पर वहाँ से सौ लड़के पैदा हो गये। इस चामत्कारिक घटना को देखकर धृतराष्ट्र ने कहा—शायद यह एक दुर्लक्षण है, कि मांसपिंड से मेरे सौ पुत्र पैदा हो गये। परंतु वे

---

२. लेगस्-पर बशद्-प रिन पो छेऽि ग्तेर् ग्यि ऽप्रेल् ब नाम की किताब दार्जिलिङ फ्रीडम् प्रेस से छपी है। उस किताब में मूल ग्रंथ शाक्य लेगस्-बशद् के निम्नोक्त श्लोक की टीका

ब्लो द्ङ ब्च्रोन् ऽग्रुस् योद् ग्युर प।
दे यिस् ब्स्ग्रुब् पर मि नुस् गङ्।
द्ग्र ब्ग्न द्पुङ छोगस् ब्चु ग्ञिस् पो
स्क्य सेङ नु यिस ब्चोम् श्ेस थोस् (लेग्स ब्शद् ६।५४)

भावार्थ :—अच्छी चेष्टा और सलाह पर ठीक से रहने से आदमी को सफलता मिलती है। जैसा, अर्जुन द्वारा बारह अक्षौहिणी सेना के साथ दुश्मन का निधन हुआ था, ऐसी कहावत है। भोट भाषा में महाभारत की जो कहानी मिलती है, उसमें अर्जुनादि पाँच भाइयों की चेष्टा और कृष्ण की महत्त्वपूर्ण मंत्रणा की बात मिसाल के तौर पर कही गयी है। यह शाक्य लेगस् बशद् और उसकी टीका किसी भी अनूदित ग्रंथों में नहीं हैं। ये भोट पंडितों की अपनी रीति से लिखी हुई मौलिक किताबें हैं। भारतीय कहानी पर भोटदेशीय पंडित ने एक नया दृष्टिपात किया है। उनकी दृष्टि में महाभारत की लड़ाई कोई धर्मयुद्ध नहीं है, परंतु राजनीति का सुनिपुण कौशल है।

कैसे जिंदा रहेंगे ? उन्होंने अपने पिता व्यासजी के सामने जाकर यह प्रश्न पूछा। व्यासने कहा—"इनलोगों के अपने-अपने हाथ-पैर और प्रत्यंग स्पष्ट और अविकृत होने के कारण वे मरेंगे नहीं, परंतु वे महाशक्तिशाली होंगे, जिससे कि वे बड़ी से बड़ी लड़ाई में भी लड़ सकेंगे।"

थोड़े दिन के बाद, पांडुराजा ने अपनी कोई संतान नहीं होने का कारण अपना राज्यभार छोटे भाई को समर्पण कर दिया और रानी कृष्णा और कुंती को साथ लेकर जंगल में चले गये। उस जगल में एक ऋषि दंपती जंगली जानवर के रूप में रहते थे। जब वे अपने कामविहार में रत थे, तब राजा पांडु ने उन दोनों को भूल से मामूली-सा जानवर समझ कर उनपर तीर चलाया। ऋषि ने अपना स्वरूप प्रकट कर गुस्से में अभिशाप दिया कि हमारे कामविहार में तुमने जैसी बाधा डाली, इसी तरह तुम भी अपना कामजीवन भोग करने के समय ही मरोगे। यह बात कह अपने शरीर में आग लगा ली। ऋषि की पत्नी ने कहा कि तुम्हारी विधवा पत्नी मेरी तरह शोकार्त्ता होगी। यह अभिशाप देकर आग के अंदर वे भी प्रवेश कर गयीं। राजा पांडु इस अभिशाप से डरकर सावधानीपूर्वक साथ चलने लगे। रानी कृष्णा ने भी उनको समझाकर प्रबोध-वचन कहा।

उस समय उसी जगल में एक महातपस्वी ऋषि चारों ओर आग जला कर उसके बीच में निराहार ही समाधि में बैठे थे। उपवासी होकर कठोर तपश्चर्या में बैठे हुये ऋषि की यह बात जानकर कृष्णा उन महात्मा को दूध पिलाने गयी। लेकिन चारों ओर आग जलते रहने से ऋषि को दूध पिलाने के समय कृष्णा के हाथ आग से जल गए। उसका एक टुकड़ा उस ऋषि के गोद में पड़ा। ऋषि का समाधि टूटी। आँखें खोलकर उन्होंने कृष्णा से पूछा—क्यों मुझे खिला रही है ? अपना हाथ जल गया, तब मुझे भोजन देने का क्या मतलब है ? तब कृष्णा ने सारी बातें कहीं और उनसे पुरुषाकर्षक (स्क्येसपा-ऽगुगस्पा) एक देवमंत्र के लिये प्रार्थना की।

उस देवमंत्र के प्रभाव से रानी कुंती ने सूर्य की प्रार्थना की। उनसे एक पुत्र जन्मा। उसका नाम कर्ण था। लेकिन यह बात पांडु राजा के सामने उपस्थित करने में उसे लज्जा आई। उस नवजात शिशु को एक पेटी में रख कर एक नदी में छोड़ दिया। अश्वरूप नाम एक राक्षस ने उस पेटी को पकड़ा और उसका ढक्कन खोलने पर एक तेजवान् शिशु को देखा। प्यारसे अपना पुत्र मानकर उठा ले गया। उसने एक अभिज्ञासंपन्न सिद्ध ऋषि के पास जाकर उनकी चरण-वंदना की। और कहा—"भगवन् इस लड़के का शरीर वज्र के समान दृढ़ बना दीजिये"। ऋषि बोले 'तथास्तु'। यह कह कर जब उस लड़के को अपने गोद में उठाने लगे तब एक

नाग ने इस प्रकार कहा—'क्यों आपको मालूम नहीं है कि यह जातक कुगर्भजात है। उसको नग्न अवस्था में पकड़ना ठीक नहीं है।' ऋषि ने इस बात को सुनकर उस बच्चे को कपड़े से लपेट कर संकर्षण मंत्र-पाठ किया जिससे अश्विनीकुमारों ने उस बच्चे के शरीर को वज्र के समान दृढ़ बनाया। लेकिन उसके कटिदेश में कपड़े की पट्टी रहने के कारण उस स्थान में शरीर के साथ ही कवच सपृक्त हो गया। इसलिये कर्ण का कवच वज्रस्फटिक से विभूषित हुआ था।

उधर कृष्णा ने धर्मराज यम की परिचर्या की। उनसे एक पुत्र का जन्म हुआ था। उसका नाम युधिष्ठिर था। वे अपने पिता के समान सद्गुणों से विभूषित होकर ज्ञान-मूर्त्ति और कट्टर सत्यवादी हुए। जो जीवन की हानि होने से भी कभी झूठी बातें नहीं बोलते—वैसे सत्यभाषी पुरुष ही बने।

कृष्णादेवी ने फिर शतक्रतु इंद्र की उपासना की। उनसे एक पुत्र मिला था। उसका नाम अर्जुन रखा गया। वे भी पितृगुणों से विभूषित होकर दुनिया में सबसे महाधनुर्धर वीर हुये थे। जैसे मूर्तिमान धर्म और कल्याण होते हैं, वैसे ही वे कीर्तिमान थे। रानी ने फिर पवनदेव की प्रार्थना की। उनसे जो पुत्र लाभ हुआ, उसका नाम था भीम। वे संसार में सबसे बड़े शक्तिमान थे।

तब कुंती ने देवभिषक अश्विनीकुमार द्वय की उपासना की। उनको प्रार्थना से दो पुत्रों ने जन्म लिया, नकुल और सहदेव। अपने पिता के गुण पुत्रों में भी आ गये। नकुल धीर और विचक्षण बने, और सहदेव कांतिमान प्रियदर्शन।

कुंती देवीने पहिले पुत्र को नदी में छोड़ दिया। इसलिये सामान्यत: कृष्णा के तीन लड़के और कुंती के दो लड़के थे। ऐसी बात कही जाती है। मूलतया, ये लड़के देवपुत्र होने पर भी संसार में राजा पांडु के पाँच पुत्र थे—यह प्रसिद्धि थी। इससे पांडुराजा के दिल से दुख और संदेह छूट गये। तब राजा पांडुने सोचा, कृष्णा की तरह रतिरूपा रमणी सामने रहते हुये भी मेरा कामजीवन साधित न हुआ। सोचकर उन्होंने अग्निपुर में प्रवेश किया। उस समय उस ऋषिका अभिशाप उनपर आ गया और आसमान से एक मंत्रबाण छूटा, जिससे राजा पांडु की मौत हो गयी। अंत्येष्टि-क्रिया के पश्चात् उनका शरीर आग में जला दिया गया।

कृष्णादेवी ने विधवा रानी कुंती से कहा—"मेरे तीनों लड़कों को तुम अपना समझ कर इन पांच पुत्रों का लालन-पालन करो।" ऐसी अंतिम इच्छा प्रकट कर उसने आगमें प्रवेश किया। रानी कुंती ने यह बात मान ली। तदुपरान्त वे सब अपने राजप्रासाद में वापस आ गये। रानी कुंती और उनके साथ स्वर्गीय राजा पांडु के पाँच

पुत्रों को देखकर नगरवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उत्सव मनाया गया जिससे रानी कुंतीदेवी के दिल में जो कुछ खेद था, वह समाप्त हो गया।

यह देखकर धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों का दिल असूया से भर गया। कैसे इन छोटे रिश्तेदार भाइयों को मारकर या झांसा देकर उनलोगों से राज्य छीना जाय, ऐसा विचारविमर्श किया गया। यह सिद्धांत तय किया गया कि उन पाँचों भाइयों और रानी कुंती के लिये मोम और लाह का एक सुदृढ़ मकान बनवाया जाय और उसके अंदर उन छः प्राणियों को जलवा दिया जाय; उन्होंने यह बात तय कर वैसा ही किया। वह मकान जल्दी ही आगमें जल गया। लेकिन पांडुके पाँचों पुत्र और कुंतीदेवी को उनके मातुल कृष्णसे एक गुप्त संकेत मिला। जिससे बुद्धिमान नकुलने एक खंभा तोड़ लिया और उससे नीचे सुरंग के द्वारा बाहर निकल गये।

वहाँ से निकल कर उन पाँच पुत्रों और कुंती को सिंहल नाम के एक राक्षसों के देश में जाना पड़ा। उस समय वहाँ के राक्षसों ने यह देखा कि युधिष्ठिर और उनके भाई अपने रिश्तेदारों से वंचित होकर राक्षसों के इस देश पर स्वाधिकार करेंगे। तथापि राक्षस उन्हें खा न सके। तब राक्षसों ने अश्वपत्री नामक एक मायाजाल से उनलोगों पर मंत्र जलवर्षण किया। उस समय एक राक्षसी कन्या पैदा हो गयी। लड़की ने पैदा होते ही पूछा—'मुझे क्या करना है'? उसको राक्षसों ने पुरानी कहानी सुनायी। तब वह कन्या युधिष्ठिरादि पाँच भाइयों के सामने आयी। युधिष्ठिर ने कहा—प्रतीक्षा करो। उसने चांडालिका की त्रोटक-छंदमें स्तुति की, और श्रद्धा के साथ कहा यदि तुम चांडालिका-पुत्री हो तो तुरंत यहां से भाग जाओ। वह लड़की अप्सरा की तरह आसमान में उड़ गयी। तब युधिष्ठिरने सभी राक्षसों का निधन किया और उस देश पर अपना कब्जा किया।

युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों ने उस राक्षस की एक कन्या से शादी की। उस नारी से संभोग के लिये अपने में इस प्रकार तय कर लिया गया कि उसके साथ विहार करते समय एक अभिज्ञान से दूसरे को स्पष्ट किया जायेगा। एक रोज भीमसेन जब उस पत्नी के साथ रतिरत थे और अपने पैर की जूतियां दरवाजे पर छोड़ गये थे। परंतु एक कुत्ते ने उन जूतियों को उठाकर चूहे के बिल में छोड़ दिया। चूहे ने उन्हें खा लिया। अर्जुन को यह बात मालूम नहीं थी। वे झट से जब अंदर घुसे तो भीमसेन को उस स्त्री के साथ आबद्ध देखा और बड़े शर्मिन्दा हुए। नियम के अनुसार भीमसेन के अंदर रहने के समय अर्जुन क्यों अंदर घुस आये, इस प्रश्नपर बाद में अर्जुन ने कहा—'दरवाजे के सामने कोई अभिज्ञान नहीं था', यह जवाब दिया। अर्जुन की बात पर भीमसेन विश्वास न कर उनपर रुष्ट हुये।

परंतु जब पता चला कि कुत्ते और चूहे ने उनकी जूतियां छिपायी थी, तब उन दो इतर कुजीवों को ऐसा अभिशाप दिया—चूहे को रति के समय इंद्रिय-विकार होगा और कुत्ते की रति के समय इंद्रिय नग्नता परिस्फुट होगी।

दस महीने के बाद भीमसेन की उस पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। वह लड़का पिता के समान बलवान और माता के समान पिंगलकेश था। उसका नाम था घटनासा। इस प्रकार युधिष्ठिरादि पाँचों भाई जब अच्छी हालत में रहने लगे, तब उन पाँच भाइयों के जीवित रहने की बातें दुनिया में फैल गयीं। योधन आदि रिश्तेदारों ने इसे सुनकर—'हमारे साथ लड़ाई करो' उन्हें यह समाचार भेजा। लेकिन युधिष्ठिर अपने रिश्तेदार के साथ लड़ाई करना बुरी बात है, यह सोचकर चुप रहे। तब कृष्णने एक ब्राह्मण का वेश लेकर योधन के सामने हाजिर होकर पूछा—'तुम बारह अक्षौहिणी सेना मांगते हो, या विकल्प में अकेले वासुदेव को मांगते हो।' योधन बोला, मैं पहली चीज मांगता हूं। तब कृष्ण ने पांडु पुत्रों की सहायता की।

एक नदी के किनारे दोनों पक्षों की सेना इकट्ठी हो गयी, जब लड़ाई शुरू होने लगी तब अर्जुन ने देखा कि चारों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदार खड़े हुये थे, और वे एक-दूसरे के साथ लड़ने के लिये तैयार थे। यह दृश्य देखकर अर्जुन युद्धभूमि छोड़कर एकांत में नदी किनारे चले गये, और कृष्ण से इस प्रकार बोले—"कृष्ण भगवान! इन स्वजनों को लड़ने के लिये तैयार देखकर मेरा शरीर कांप रहा है। इस लड़ाई में मैं अपने आत्मीय समुदाय को मारना नहीं चाहता हू।"

यह कहकर अर्जुनने लड़ना नहीं चाहा, और कहने लगा—'कर्ण, दुर्योधन आदि सौ बड़े भाइओं और वे गुरुजन जो अभी हमारे साथ लड़ने के लिये आये हैं, उनके साथ मेरी कोई दुश्मनी नहीं है।" कृष्णने उत्तर दिया—"अपकारी के साथ हेल-मेल करना किसी शक्तिमान पुरुष का काम नहीं है। इसलिये घोष करो, दुश्मनों को मारो, उन्हें क्षति पहुंचाओ। अर्जुन, क्यों तुम इस प्रकार मोह में गिर पड़े हो? क्यों तुम्हारा दिल इतने संशय से भर गया है?" उन्होंने आगे और भी समझाया—"जो स्वयं को मारनेवाला सोचता है, जो स्वय को मारा जाता हुआ सोचता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं कि न कोई मारनेवाला है, न कोई मारा जाता है। जो पंडित हैं, वे विद्या विनय-संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते या चांडाल को भी समभाव से देखनेवाले हैं।[१]" ऐसा कहकर अपने भाषण

१. स्वर्गीय पं० विधुशेखर शास्त्री ने भोटप्रकाश ग्रंथ में श्रीमद्भगवद्गीता से पाँच श्लोकों का भोट अनुवाद रखा है। लेकिन उन्होंने उन श्लोकों का भोटभाषा में अनुवाद कौन-सी किताब से लिया था, यह उल्लेख नहीं किया।

के पक्ष में औपम्य रूप या दृश्य४ दिखाकर कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने के लिये तैयार कर लिया।

कुंती के पुत्र कर्ण को जब ऋषि का आशीर्वाद मिला और उसका शरीर वज्रोपम दृढ़ बन गया था ये सारी बातें कृष्ण को मालूम थीं। कर्ण के शरीर से वह कवच नहीं छीन लेने से उनकी कोई हानि नहीं होगी। इस बात का ख्याल रखकर किस प्रकार उन्हें जीता जाये, ऐसा सोचते हुए अर्जुन ने अपने पिता इंद्र को याद किया। इंद्र ने एक ब्राह्मण के वेश में कर्ण के पास जाकर प्रार्थना की।

कर्ण ने परम श्रद्धा के साथ उनका स्वागत किया और कहा,—'कैसे आपकी सेवा करूँ।'

इंद्र ने जवाब दिया,—'मेरी विशेष कोई मंशा या अभिलाषा नहीं है।'

कर्ण फिर बोला,—'कोई संकोच न करें।'

तब ब्राह्मणरूपधारी इंद्रने कहा,—'मैं आपके शरीर की थोड़ी सी खाल मांगता हूँ।'

यह सुनकर कर्ण ने अपने शरीर से कवच काट कर उनको दे दिया तब उसके शरीर का ऊर्द्ध भाग अधो भाग से भिन्न हो गया। अंतरिक्ष में देवतागण इस आश्चर्यपूर्ण दृश्य को देखकर 'इंद्र कैसे निर्मम हैं, और कर्ण एक महान दाता है,' पुकारने लगे। इंद्र ने वह कवच लेकर अपने पुत्र अर्जुन को दिया। जिससे अर्जुन ने अपनी ढाल तथा वर्म का निर्माण किया।

जब योधन के सौ भाइयों के साथ जंबुद्वीप की बारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी थी और पांडु के पाँच पुत्रों की केवल कृष्ण ने ही सहायता की, तब भी परिणाम में योधन की बारह यूथ सेना विनष्ट हो गयी। उस दृश्य को देखकर देवों ने कहा—गांडीवी के सामने योधन की बारह अक्षौहिणी सेना औरत की तरह भाग गयी।

यह युद्ध बड़ा भयकर था। जिसमें धृतराष्ट्र पुत्रों के प्रतिपक्ष ने एक ही साथ छः व्यूह बनाये। उनके अंदर प्रवेश करना बड़ा मुश्किल काम था। अंदर स्वयं पितामह हाजिर थे। ऋषि अश्वत्थामा बड़े बुद्धिमान और अभिज्ञासंपन्न भी थे। हालांकि, युधिष्ठिर को भी उनके लिये झूठी बात बोलनी पड़ी। क्योंकि युधिष्ठिर कभी झूठी बात नहीं बोलता था। इसलिये युधिष्ठिर के स्वपक्ष और विपक्ष ने भी युधिष्ठिर का वचन

४ 'छु-रोल मजेस परि ल्त ब दुब मछुब्स बस्तन प' महाव्युत्पत्ति के अनुसार छु-रोल अवीक (९७०२) होता है। तब इस अंश का मतलब 'अवीकशोभा के दृश्योपम' है, जो कि विश्वरूपदर्शन का संकेत है। जिसमें दृष्टिगोचरीभूत दृश्य और उसके बाहर के भी दृश्य दिखाई देते हैं।

सत्य ही होगा, यह प्रत्यय करता था पितामह के निधन के लिये कृष्ण को युधिष्ठिर के मुंह से "अश्वत्थामा मर गया है" यह बात कहलवानी थी। पितामह ने जब पूछा कि क्या अश्वत्थामा की मृत्यु हो गयी, तब युधिष्ठिरको 'अश्वत्थामा मर गया', ऐसा बोलना चाहिये, यह कृष्णने पहले सिखला दिया था। लेकिन, युधिष्ठिर झूठ बोलने के लिये बिलकुल तैयार नहीं थे। इसी समय अश्वत्थामा नामक एक घोड़ा मरा। उस घोड़े का नाम और ऋषि अश्वत्थामा का नाम एक ही होने की कारण कृष्ण ने फिर युधिष्ठिर को सिखलाया कि 'अश्वत्थामा मर गया है' ऐसी बात बोलना झूठ नहीं परन्तु युधिष्ठिरने यह भी नहीं माना। तब कृष्णने दुबारा कहा—"अश्वत्थामा मर गया है, वह घोड़ा था" ऐसी बात बोलने से बात झूठी नहीं होगी। इस प्रकार सिखलाने के बाद युधिष्ठिर जब पितामह के सामने यह वाक्य बोलने लगे, तब बाहर के कोलाहल से पितामह को "अश्वत्थामा मर गया" इससे अधिक कुछ भी सुनाई न दिया। यह बात सुनकर पितामह का दिल इतना घबरा गया कि वे लड़ाई छोड़ बाँया पैर दाहिने पैर के ऊपर रखकर सोचने लगे। अर्जुन ने तुरंत गांडीव लेकर व्यूह भेद किया। उस समय कृष्ण ने हाथ की ताली लगाकर इशारा किया, जिससे अर्जुन ने उनको झट् से मार डाला था।

बाद में योधन ने कहा—मेरे छोटे भाइयों की मृत्यु के बाद मैं यह कसम खाता हू कि जो मेरे प्रतिस्पर्धी हों, उनसे मैं डरूंगा नहीं। लेकिन मेरे छिप जाने से वे पांडु पुत्र मुझे खोज लें, तो मैं मर जाऊंगा। अगर वे मुझे खोज् नहीं सकेंगे तो उनको मरना पड़ेगा। यह बात सुनकर अर्जुन ने भी कसम खायी कि सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के भीतर मैं उसको खोज ही लूँगा, नहीं तो मैं आग में जल मरूंगा।

योधन छिप गये। उसको खोजते-खोजते सूरज पश्चिमी दिशा में छिपने लगा। योधन बड़ा खुश होकर बाहर निकल आया। तब अचानक सूरज को ढँके बादल हट गए और सूर्य की किरणें प्रकाशित हो गयीं। उसी समय अर्जुन ने उसका निधन किया। परन्तु एक जन्मांध ऋषि ने योधन को यह अभिशाप दिया था कि जब तक उस ऋषि के गोद में योधन का सिर न गिर पड़े, तबतक उसे मौत नहीं आयेगी। अर्जुन ने भी अपने प्रभाव से योधन का धड़ से कटा सिर बाणों के द्वारा उस ऋषि की गोद में फेंक दिया।

इस प्रकार धृतराष्ट्र के सौ लड़कों की मौत हो गयी। युधिष्ठिर आदि पाँच भाई उस युद्ध में विजयी हुए और जम्बुद्वीप में सौभाग्य के साथ राज्य करने लगे। वे दैवप्रभाव से प्रभावशाली थे।

तत्पश्चात् यौवन के एक सेनापति ने सोचा कि अर्जुन आदि पाँच भाई हमारे दुश्मन हैं वे हमारे प्रभु यौधनादि सौ भाइयों को मारने वाले हैं। अतः उनलोगों के अधिकार में रहने से मरना अच्छा है। ऐसा सोच वे जंगल में चले गये। बाद में हिमालय पहाड़ को पार कर भोट देश जा पहुंचे। वे लोग ही भोटदेश के आदिम अधिवासी बने—यह बात अबतक प्रचलित है।

भोट देश के लेखक रिनछेन दूपल ने महाभारत की जिस कहानी का उल्लेख किया है उसका हिंदी अनुवाद ऊपर दिया गया है। इस कहानी के साथ भारत में प्रचलित संस्कृत भाषा की कहानी से एक तुलनात्मक विचार किया जाये तो पाया जायगा—मूलतया दोनों कहानियां पांडुपुत्र और धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों की लड़ाई की कहानी हैं। लेकिन भारत की कहानी से भोट देश की कहानी कुछ स्थानों में भिन्न है। वे भेद नीचे दिये गये हैं।

(क) भोट कहानी में व्यास एक राजा थे। जिसको राजर्षि (ग्यल-पो छेन पो द्रङ स्रोङ ग्यंस प) कहा गया है। उनकी दो रानियाँ थीं। बड़ी रानी क्षत्रिय थीं, छोटी ब्राह्मणी। क्षत्रिय रानी के गर्भजात पुत्र पांडु और ब्राह्मणी के गर्भजात पुत्र धृतराष्ट्र। उन दोनों में पांडु बड़े थे।

लेकिन संस्कृत महाभारत में व्यास पराशर ऋषि के औरस से सत्यवती के गर्भजात पुत्र थे। पराशर ऋषि राजा नहीं थे। सत्यवती नृपवीर्य से जन्म होने पर भी एक शाप भ्रष्ट अप्सरा थी, जो मछली के रूप में परिणत हो गया थी—उसके पेट से निकली। एक धीवर ने उसको पाला। बाद में, हस्तिनापुर के राजा शांतनु के साथ उनकी शादी न होती तो राजवंश के साथ व्यास या सत्यवती का संयोग भी नहीं होता। इसलिये संस्कृत महाभारत में व्यास को राज्यपाट मिलने की बातें नहीं हैं। व्यास की शादी की बात संस्कृत महाभारत में नहीं है। लेकिन व्यास के प्रभाव से अंबालिका और अंबिका के पुत्रोत्पादन की जो कहानी है, उसके कारण विचित्रवीर्य की अकाल मृत्यु हुई है। राजवंश के रक्षार्थ माता सत्यवती के अनुरोध से व्यास के द्वारा पुत्रोत्पादन किया गया था, ऐसा निर्णय है। धृतराष्ट्र के बड़े भाई होने पर भी जन्मांधत्व के कारण, पांडु ही राजा बने थे।

(ख) संस्कृत महाभारत में देखा गया कि सत्यवती द्वारा प्रेषित अंबालिका और अंबिका दो रानियाँ डर के मारे सर्वांग सुंदर पुत्रोत्पादन में व्यर्थ हुईं। तब सत्यवती बड़ी चिंता में पड़ गयी। अत. एक दासी को व्यास के पास भेजा। दासी बड़ी शुद्धस्वभावा थी, अतः उससे एक शांत, गुणसंपन्न सुदर्शन पुत्र हुआ, जिसका नाम विदुर था। यह विदुर धर्मपक्ष का समर्थक था। इसलिये युधिष्ठिरादि पाँच भाइयों के जतुगृह में जाने के पहिले

म्लेच्छभाषा में सारी बातें सूचित कर दी गयीं। भोट कहानी में न विदुर है, न उसकी दासी माता की कहानी है। अत: भोट कहानी में विदुर की जगह पांडुपुत्र के मातुल कृष्ण ने गंभीर इशारे से उनलोगों को सावधान किया था। जिसका मर्मार्थ नकुल ने समझ लिया था।

(ग) भोट कहानी में राजा पांडु की दो रानियां थीं। क्रम से कृष्णा और कुन्ती। कृष्णा के साथ कामजीवन उपभोग करते समय पांडु की मृत्यु हो गयी। कृष्णा ने पुरुषाकर्षक देवमंत्र लाभ किया। कुंती के युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन तीन पुत्र थे, और कृष्णा के नकुल और सहदेव दो पुत्र थे। परंतु संस्कृत महाभारत के अनुसार कुंती के साथ पांडु की शादी होने के पश्चात् भीष्म बहूलीक पुरुष महाधिपति शल्य के पास जा कर इस प्रकार बोले— 'तुम्हारी बहिन माद्री बहुत ही साध्वी है, मैं उनके साथ अपने भाई की शादी करवाना चाहता हूँ।' माद्री कृष्णवर्णा थी, कुंती गौरवर्णा। परंतु संस्कृत महाभारत में कृष्णा द्रौपदी का नाम था, माद्री का नाम नहीं था। और कुंती ने दुर्वासा ऋषि को तुष्ट कर उनसे पुरुषाकर्षक देवमंत्र लाभ किया, कृष्णा ने कुंती से वह मंत्र सीखा था।

(घ) भोट कहानी के अनुसार जतुगृहदाह के पश्चात् पांडु के पाँच पुत्र राक्षस देश सिंहल (सिं-ग-ल) गये थे। वहाँ उन्होंने उस राक्षस देश पर अधिकार किया और वहाँ ही एक राक्षसी कन्या से पाँचों भाइयों ने आपस में यूथ विवाह किया। भीम के औरस से उसके पुत्र का नाम घटनासा था। संस्कृत महाभारत की कहानी में उन पाँचों पुत्रों की सिंहल यात्रा का कोई उल्लेख नहीं है। राक्षसी कन्या हिडिम्बा से भीम की शादी हुई। और पाँचों भाइयों के साथ वीर्यशुल्का द्रुपद राजकन्या द्रौपदी की शादी हुई। अत: वह द्रौपदी पाँच भाइयों की यूथ पत्नी थी।

(ङ) भोट कहानी के अनुसार जब भीमसेन एकांत में अपनी पत्नी के साथ विहार कर रहे थे, उस समय अर्जुन ने पूरी स्थिति को न समझकर अनवहित अवस्था में अंदर प्रवेश किया। उस प्रवेश का मूल कारण नाटकीय परिस्थिति है, जो चूहे और कुत्ते की कहानी में प्रकट की गयी है, लेकिन संस्कृत महाभारत में कहानी भिन्न है, वहां, युधिष्ठिर अंदर थे, भीम नहीं। जब द्रौपदी और युधिष्ठिर एकांत में थे, तब अर्जुन को पता चला कि वे अंदर है। परंतु राज्यरक्षा की एक कठिन समस्या ऐसी आ गई कि शस्त्रागार से हथियार लाने के लिये अर्जुन को अंदर जाना ही पड़ा। अत: पूर्व शर्त के अनुसार अर्जुन ब्रह्मचारी बनकर जंगल में चला गया।

(च) भोट कहानी के अनुसार कर्ण के जन्मवृत्तांत की कहानी में संस्कृत महाभारत की कहानी से थोड़ा फ़र्क है। कर्ण कुंती की कुमारी अवस्था के पुत्र हैं। इसलिये जन्मते ही

उसको पानी में छोड़ दिया गया। अधिरथ नामक एक सूत ने उस नवजात को पानी से निकाल लिया और उसका पुत्रवत् पालन किया। लेकिन भोट कहानी में अश्वरूप (लिनपर्त गसुगस्) नामक एक राक्षस का उल्लेख है। और कर्ण कुंती की विवाहित अवस्था के पुत्र हैं। कर्ण की मृत्यु की कहानी भी थोड़ी भिन्न है। कर्ण ने अपना कवच शरीर से काटकर जब इन्द्र को दिया उसका शरीर द्विखंडित हो गया।

(छ) भोट कहानी में पितामह भीष्म का निधन और युधिष्ठिर का मिथ्या भाषण एकीभूत हो गया है। परंतु संस्कृत महाभारत के अनुसार द्रोण के निधन के लिये युधिष्ठिर को मिथ्या भाषण 'अश्वत्थामा हतो इति गजः' ऐसा बोलना पड़ा था।

(ज) इसी प्रकार जयद्रथ वध की कहानी जो संस्कृत महाभारत में मिलती है, उसके साथ भोट कहानी में दुर्योधन-वध एकीभूत हो गया है। लेकिन भोट कहानीकार ने जिस कथा का सकलन किया था, सभवतः वह महाभारत की एक अलग कहानी है। वह कहानी व्यास प्रणीत महाभारत से कुछ मिलती है।

संक्षेपतः हमारा भारत एक विचित्र देश है। यहाँ पर हर तरह की कथाएँ, और कई प्रकार के पूरे आख्यान चलते-फिरते हैं या प्रचलित हैं। इसलिये यह सोचना ठीक नहीं होगा कि भोट भाषा में जो कहानी मिलती है वह प्रक्षिप्त या असार है। क्योंकि महाभारत की कहानी दक्षिणपूर्वी एशिया के यवद्वीप, बालीद्वीप, और मलाया में मिलती है। परन्तु वहाँ की कहानियाँ भारत में प्रचलित महाभारत की कहानी से भिन्न है। महाभारत सचमुच महाभारत है। प्राचीन भारत तथा वृहत् भारत के युगयुगांत का समाज, जिसमें नीति, शिक्षा, धर्म—संक्षेप में, सामग्रिक लोकजीवन तथा 'महाजन' की जीवनयात्रा के उज्ज्वल और स्पष्ट मार्ग चिह्न हैं। जिसमें प्राचीन भारत का इतिहास, विज्ञान, राजनीति, दर्शन इकट्ठे मिलते हैं। इसलिये महाभारत की जो कहानी भोट भाषा में आज मिलती है वह भारत और भोट देश के भावसमन्वय का निदर्शन है।

प्रवीणराय पातुर का रचनाकाल : ऐतिहासिक विश्लेषण

राधेश्याम द्विवेदी

प्रवीणराय को बुन्देल वैभव के लेखक 'पातुर, नहीं मानते। बुन्देल वैभव का सम्पादन स० १९९० वि० में हुआ था। सम्पादक गौरीशंकर द्विवेदी, झांसी की एक मात्र बची-खुची निजी प्रति देखने को मिली बुन्देल वैभव का सम्पादन ओरछा के निकटतम सम्पर्क के आधार पर हुआ था। पादटिप्पणी में बताया गया था कि ओरछा के शासक सवाई महेन्द्र महाराज के पास मेजर सरदार सज्जनसिंह ए० डी० सी० रहे थे। सरदार सज्जनसिंह के अनुसार प्रवीणराय के वंशज भूतपूर्व ओरछा राज्य में हैं और उनके पास सनदें हैं। उससे पता चलता है कि प्रवीणराय पातुर नहीं थी।१

प्रवीणराय का सम्बन्ध ओरछा के कार्यवाहक राजा इन्द्रजीत सिंह के दरबार से था, यह दरबार कब अस्तित्व में आया ? केशवदास की शिष्या यह कब बनी, और इन्द्रजीतसिंह पर अकबर ने कब जुर्माना किया, जबकि केशवदास महाकवि और प्रवीणराय के काव्यगुरु केशव को प्रवीणराय के साथ अकबरी दरबार में भेजा गया और जनश्रुति के अनुसार अकबर और प्रवीणराय में काव्यमय संभाषण हुआ, जिसमें प्रवीणराय ने अपने प्रेमास्पद इन्द्रजीतसिंह के प्रति एकाग्र पतिनिष्ठा रखते हुए स्वयं को जूठी पत्तल कहकर और उसकी ओर रुचि रखनेवालों को वायस और श्वान की उपमा देते हुए अपने पातिव्रत की रक्षा की थी।२

इन्द्रजीतसिंह ओरछा के कार्यवाहक राजा पर अकबर ने एक करोड़ रुपया जुर्माना किया था। इसे माफ कराने के लिये केशवदास ने बीरबल का सहारा लिया था। इसका उल्लेख जनश्रुति के तौर पर साहित्य ग्रंथों में हुआ है।३

ओरछा नरेश मधुकरशाह के आठ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े रामशाह थे। इनकी ओर से इन्द्रजीतसिंह राजकाज संभालते थे। वीरसिंहदेव उनसे छोटे भाई थे। इन्द्रजीतसिंह ने

---

१. बुन्देल वैभव—सं० गौरीशंकर द्विवेदी, (सं० १९९०, संस्करण प्रथम) खण्ड ३ : प्रथम भाग, पादटिप्पणी, पृष्ठ २४३—२४७ (प्रवीणराय पातुर)।

२ कविता कौमुदी, पृष्ठ २७३, भाग १, आठवां संस्करण, मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियां-डा० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ २४१-२४३। केशवदास और उनका साहित्य—डा० विजयपाल सिंह, सन १९६१, संस्करण पृष्ठ २१-२२। राधाकृष्ण ग्रंथावली, प्रथम खण्ड पृष्ठ २१२।

३. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ४५४, ४५५, ४६१। मिश्रबन्धु विनोद पृ० २४६, केशवदास और उनका साहित्य—डा० विजयपाल सिंह, पृष्ठ २३। शिवसिंह सरोज, पृष्ठ संख्या २८५-२८६।

केशवदास को गुरु माना था, केशवदास इन्द्रजीतसिंह के मंत्रगुरु, दरबारी कवि तथा मंत्री थे।४ डा० श्यामसुन्दरदास ने भी इन्द्रजीतसिंह के दरबार में केशवदास का रहना माना है। आचार्य शुक्ल एवं डा० हीरालाल दीक्षित भी इससे सहमत हैं।५

इन्द्रजीतसिंह के दरबार में यद्यपि षट् पातुर परम प्रसिद्ध थीं, किन्तु प्रवीणराय केशवदास की ऐसी शिष्या थी जिसके लिये केशव ने शारदा और शिवा की उपमा दी है तथा उसी के निमित्त 'कविप्रिया', की रचना की।६

सविता जु कविता दई, ता कहँ परम प्रकास,

ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केशवदास। (कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ६१)

केशवदास का काल डा० विजयपालसिंह ने वि० १६१८—१६८० अर्थात् सन १५६१ ई० से १६२३ ई० तक माना है।७ मधुकरशाह बुन्देला के देहावसान के बाद राजा रामशाह ओरछा के राजा सं० १६४९ (सन १५९२) में हुए, और इन्द्रजीतसिंह कार्यवाहक राजा सन १५९२ ई० के पहिले नहीं हुए। इन्द्रजीतसिंह को कछौआ की जागीर मिली थी जिसे कछवा कमल गढ़ कहा जाता था, बाबरनामे में इसे कचवा लिखा है। वीरसिंहदेव को बड़ौनी की जागीर मिली थी। यह बड़े पराक्रमी और शूरवीर थे। अकबर ने रामशाह और वीरसिंहदेव के बीच गृहयुद्ध भड़काकर रामशाह का पक्ष लिया, जिसमें आसकरण कछवाहा नरवर अकबर की ओर से भाग लेता रहा। मधुकरशाह के जमाने में भी ओरछा में अकबर की ओर से मुगलवाहिनी १५७७, १५८८, १५९१ ई० में भेजी जा चुकी थी।८

अकबर बादशाह का काल राज्यारोहण से अन्त तक सन १५५६ को १४ फरवरी से २५, २६ अक्टूबर १६०५ ई० तक ही रहा।९

---

४. सर्च फार हिन्दी मेन्यूस्क्रिप्टस १९०६-८, पृष्ठ ७। कविप्रिया, द्वितीय प्रभाव, छन्द १०। केशवदास और उनका साहित्य, पृष्ठ २४, ३९, ४१।

५. हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दर दास, पंचम संस्करण, पृष्ठ २४९। हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, पृष्ठ २०७। आचार्य केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित, पृष्ठ ३२।

६. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव छन्द ४२-४४, ५९, ६०, ६१।

७. केशवदास और उनका साहित्य—डा० विजयपालसिंह, पृष्ठ ९२, ९३। बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास—गोरेलाल पृष्ठ १२६, १२७, १२८ सं० १९९० प्रथम सं०।

८ डा० विजयपालसिंह, वही, पृष्ठ ४६। बुन्देलखण्ड का सं० इतिहास, पृष्ठ १२७, १२८, १३०—१३९। मुगलकालीन भारत बाबर, सं० रिजवी, पृष्ठ २३४।

९. मुगलकालीन भारत—डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ १५२, २०४-५।

इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रवीणराय से सम्बन्धित घटनाओं पर विचार करने से उसके निर्धारित जन्म काल के विषय में सन्देह उत्पन्न होने लगता है, श्री पुरुषोत्तम शर्मा ने अपने सुविचारित लेख 'प्रवीणराय पातुर और उनका काव्य' नामक लेख में विचार प्रकट करते हुए उसका जन्म काल सं० १६४० वि० माना है, जिससे सन १५८३ ई० प्रवीणराय का जन्म काल आता है।१०

यदि सन १५८३ ई० जन्म काल मानकर चला जाय, तो इन्द्रजीतसिंह के सन १५९२ ई० में कार्यवाहक राजा होते समय प्रवीणराय केवल ९ नौ वर्षीय लड़की होती है। बुन्देलखण्ड के इतिहास की घटनायें तथा मुगल बादशाह अकबर के काल से सम्बन्धित प्रवीणराय की जनश्रुति के आधार पर घटनाओं को यदि देखा जाय तो अधिक से अधिक १५९२ ई० से १५९४ ई० तक ही ऐसा समय आता है, जब इन्द्रजीतसिंह के ओरछा दरबार में संगीत का राज रहा होगा—जिसका उल्लेख कविप्रिया में इस प्रकार हुआ—

करयो अखारो राज के सासन सब संगीत
ताको देखत इन्द्र ज्यौं, इन्द्रजीत रनजीत।

(कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ४१)

आईने अकबरी में इन्द्रजीतसिंह का ओरछा राजवंश में नामोल्लेख नहीं है किन्तु इसका कारण यही है कि इन्द्रजीतसिंह स्वयं राजा नहीं थे, वे रामशाह बुन्देला राजा के अनुज एवं कार्यवाहक थे।११

सन १५९४ ई० से कुछ पूर्व से ही रामशाह और वीरसिंहदेव में अकबर की कृपा से गृहयुद्ध छिड़ गया, जिसमें ऐरछ से वेरछा, माण्डेर, नरवर, ग्वालियर, ओरछा, बड़ोनी, दतिया युद्ध की लपेट में थे और वीरसिंहदेव बुन्देला का अप्रतिम शौर्य देदीप्यमान था। बेतवा और चम्बल के कछार राजपूत और मुगलवाहिनी के घोर संघर्ष से रौंदे जा रहे थे, बेतवा में वर्षा काल की उमड़ती नदियों मे बुन्देलों को राग मल्हार के स्थान पर युद्धनाद सुनाई पड़ता था। बुन्देली लोकगीत ने इस समय को जनमानस की स्मृति में यह गाकर स्थायित्व दे दिया—

चली जो आवे नदिया बेतवे, गावत आवे मल्हार
कौन सूरमा पैरत आवे, मू में दाबें ढार तरवार रे . . !

१०. विश्वभारती पत्रिका, खंड ८, अंक १ (सं० २०२४ वि०) पृष्ठ ५६-६४, प्रवीणराय पातुर और उनका काव्य—श्री पुरुषोत्तम शर्मा।

११. आईने अकबरी—अनुवादक, ब्लाकमैन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४६।

इस गृहयुद्ध में आंतरी (ग्वालियर) के बीच अबुलफजल का १६०२ ई० में वीरसिंहदेव बुन्देला द्वारा वध हुआ। १५९९ ई० में मुराद की मृत्यु हो गई थी। सलीम की माँ तथा दानियाल की मृत्यु १६०४ ई० में हुई, और १५९९ ई० से अकबर की मृत्यु पर्यन्त १६०६ तक सलीम का विद्रोह अकबर के खिलाफ जारी रहा।१२

ऐसी दशा में प्रवीणराय पातुर का अकबर के दरबार में जाने की किम्वदन्ती के अनुसार घटना १५९९ ई० के बाद नहीं घटनी चाहिये और बुन्देलखण्ड के इतिहास के अनुसार १५९४ ई० के बाद नहीं घटनी चाहिये। रामशाह राजा गृहयुद्ध में रत हों और इन्द्रजीतसिंह के दरबार में छमाके होते रहें, यह बात सामान्यतः समझ में नहीं आती। ठीक इसी प्रकार अकबर जब स्वयं रामशाह के पक्ष में सन १५९४ ई० से ओरछा के गृहयुद्ध का सूत्र-संचालन कर रहा था, तब रामशाह के पक्ष में आने पर रामशाह पर उसकी ओर से इन्द्रजीतसिंह कार्यवाहक राजा पर एक करोड़ रुपया जुर्माने की घटना का औचित्य नहीं रहता। यह घटना ही रामशाह के पक्ष में अकबर के आने के १५९४ ई० के पूर्व ही घट सकती है। बीरबल के सहारे से इन्द्रजीतसिंह पर एक करोड़ रुपये जुर्माने की रकम केशवदास ने माफ कराई थी। इसी तारतम्य में रामशाह का पक्ष अकबर ने लिया होगा, अतएव निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि इन्द्रजीतसिंह के कार्यवाहक राजा होते ही उसके दरबार में पातुरों का जमघट हुआ और प्रवीणराय पातुर की ख्याति अकबरी दरबार में पहुंची। अकबर ने इन्द्रजीतसिंह को बाध्य करने उस पर एक करोड़ रुपया जुर्माना भी कर दिया। यह घटना १५९२ से १५९४ ई० के बीच ही घटित होनी चाहिये, जब १५९४ ई० से गृहयुद्ध शुरू हो गया, तब इस काल में दरबारी नृत्य बन्द रहकर प्रवीणराय ने केशवदास के पास काव्यकला का विशेष ज्ञान प्राप्त किया होगा। केशवदास ने सं० १६५८ : १६०१ ई० : में कविप्रिया ग्रंथ की रचना की।१३

कविप्रिया कवि की जीवन प्राण थी। यह रचना केशव ने प्रवीणराय को काव्य कला का शिक्षण देने के लिए की थी।१४

यद्यपि अकबर एवं प्रवीणराय के वादविवाद की घटना ऐतिहासिक आधार पर निर्भर नहीं कही जा सकती, किन्तु अनुभूति को भी सहसा दृष्टिगत नहीं किया जा सकता और उसे एकदम

---

१२. मुगलकालीन भारत—डा० आशीर्वादी लाल, पृष्ठ २९१-२९३, २०२, २०४, तथा आईने अकबरी, प्रथम भाग, अनुवादक ब्लाक मैन, पृष्ठ ५९।

१३. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ४।

१४. वही, सोलहवां प्रभाव, छन्द ८९।

निराधार नहीं कहा जा सकता। अतएव १५९४ ई० तक प्रवीणराय का जन्मकाल १५८३ ई० मानने से उसकी आयु ११ वर्ष होती है। ऐतिहासिक संगति बिठाने तथा इन तथ्यों के अनुकूल परिस्थितियों पर विचार करते हुए प्रवीणराय का जन्मकाल वह ठीक प्रतीत होता है जो बुन्देल वैभव के लेखक-सम्पादक श्री गौरी शंकर द्विवेदी ने निर्धारित किया है, यह निर्धारण सं १६३० : १५७३ ई० ' किया गया है।१५ इस हिसाब से इन्द्रजीत सिंह के कार्यवाहक राजा होते समय समय प्रवीणराय की आयु लगभग १९ वर्ष आती है, जो असगत प्रतीत नहीं होती और अकबरी दरबार में आने के समय आयु १५९४ ई० तक २१ वर्ष होती है, वह भी श्री पुरुषोत्तम शर्मा के इस निर्धारण से मेल खाती है कि अकबरी दरबार में पहुँचते समय प्रवीणराय की आयु ऐसी नहीं होना चाहिये कि जिसके यौवन का ज्वार ढल रहा हो, या जो युवती न हो। तो वह न तो, इन्द्रजीत सिंह के आकर्षण का विषय रहती और न वह अकबरी दरबार में बुलाई जाती। केशवदास की कविप्रिया की रचना के समय प्रवीणराय की आयु लगभग २७ वर्ष की होना स्वाभाविक है, जबकि उसे पिंगल का ज्ञान तथा काव्य की शास्त्रीय शिक्षा में रुचि हो सकती है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रवीणराय का जन्मकाल सं १६३० . १५७३ ई० : समीचीन प्रतीत होता है, तथा उसका रचना काल १५९२ ई० से १६०५ ई० तक प्रतीत होता है। क्योंकि अकबर की मृत्यु के बाद युवराज सलीम बादशाह होने पर ओरछा राज्य पर वीरसिंह देव आसीन हुए, अतएव प्रवीणराय की सयोग की कविता का स्फुरण इन्द्रजीत सिंह के संघर्ष काल तथा राजा न रहने पर होना अस्वाभाविक है। मुख्यत. शृंगार की अभिव्यक्तियाँ १५९२ से १५९४ ई० तक ही हो सकती हैं। संयोग के अतिरिक्त विरह की उक्तियाँ देखने में नहीं आई।

श्री लोकनाथ सिलाकारी ने एक लेख में प्रवीणराय को पातुर की अपेक्षा नर्त्तकी कहना अधिक उपयुक्त समझा है।१६ प्रवीणराय वास्तव में सामान्या न थी, वह नर्त्तकी ही थी किन्तु केशवदास ने कविप्रिया प्रथम प्रभाव, छन्द ४२ में षट पातुर परम प्रसिद्ध में प्रवीणराय की भी गणना की है। श्री लोकनाथ सिलाकारी ने अपने लेख में प्रवीणराय को लुहार जाति की कन्या होना बताया है और उससे आखेट में लौटते समय जबकि वह अपने पिता के साथ भरसान खींच

---

१५. बुन्देल वैभव—सं० गौरीशंकर द्विवेदी, : १९९० संस्करण प्रथम : पृ० २४४ तथा २४६।

१६. पतिव्रता पातुर प्रवीणराय, लोकनाथ सिलाकारी, मध्यप्रदेश सन्देश, ५ दिसम्बर १९६४, पृष्ठ ९—१२।

रही था—आँखें चार होते ही इन्द्रजीत मुग्ध हो गए थे, तथा उससे निम्नलिखित दोहे में प्रणय निवेदन किया था, इसका भी उल्लेख किया है :[१७]

वह हेरनि अरु वह हँसनि, वह मधुरी मुसुकानि,
वह सैंचनि मरसान की, हियमांह खटकत आनि।

रायप्रवीण के पिता से कन्या की याचना करके इन्द्रजीत सिंह ने गान्धर्व विवाह किया और उसे अपनी रानी के रूप में रख लिया जो प्रवीणराय का बाग कहलाता था, जिसका उल्लेख केशव ने कविप्रिया में किया है।[१८]

सहित सुदरसन करुनाकलित कमलासन बिलास मधुवन मीत मानियै,
सोहियै अपनौ रूपमंजरी पै नीलकण्ठ केसोदास प्रगट असोक उर आनियै।

*　　　*　　　*

देव कौ दिवान सो प्रवीनराय जू कौ बाग इंद्र के समान तहां इन्द्रजीत जानियै (कविप्रिया) इस घटना को सही मानने में सन्देह होता है, क्योंकि ओरछा के बुन्देला राजा जो सत और शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहे हैं तथा जिनकी मां गणेशकुंवरि ने राम राजा की प्रतिष्ठा की थी, और वह जन मानस के कोटि कोटि हृदयों का आज भी पावन आश्रय स्थल है—वह अपनी ही प्रजा में लुहार की छोकरी से प्रणय लगाते ? राजा के रूप में जिन्हें कि सुयोग्य कार्यवाहक समझा गया उस काल की प्रजा में उनके प्रति क्या श्रद्धा रही होती ? ठीक है कि प्रणय जाति की अपेक्षा नहीं करता और राजाओं के अनेक रानियां होती आई हैं, किन्तु प्रवीणराय को रनिवास में स्थान मिला हो, ऐसा कदापि उल्लेख नहीं मिलता बल्कि उसे अलग रख लिया गया था जो प्रवीणराय का बाग कहलाता था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रवीणराय नर्त्तकी इन्द्रजीत सिंह के दरबार में थी, उसकी ओर इन्द्रजीत सिंह आकृष्ट हुए और उसे उन्होंने प्रेयसी के रूप में सम्मान दिया। यह प्रवीणराय की एकनिष्ठ प्रेमास्पद के प्रति भक्ति थी कि उसने अपने सच्चरित्र से सतियों को मात कर दिया। यह हो सकता है कि प्रवीणराय पर नर्त्तकी के रूप में राजा होने के पूर्व इन्द्रजीत मुग्ध रहे हों और सत्ता में आते ही उसे दरबार में स्थान दे दिया हो। यह निश्चित है कि १५९२ ई० में प्रवीणराय नर्त्तकी थी और सामान्यतः शिक्षिता भी थी। उसे केशवदास के शिष्यत्व में देकर इन्द्रजीतसिंह ने विदुषी बनाया। इस दृष्टि से जहां तक उसके जन्म काल का सम्बन्ध है, सरोजकार[१९] एवं श्री बसु[२०] के हिन्दी

---

१७. वही, पृष्ठ १०।

१८. वही, पृष्ठ १०।

१९. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ १५९।

२०. हिन्दी विश्वकोष—सं० श्री नगेन्द्रनाथ बसु, जिल्द १४, पृष्ठ ६४१।

विश्वकोष के अनुसार उसका जन्म सं० १६४० (१५८३ ई०) मानने में बहुत बड़ी कठिनाई है। नौ वर्ष की लड़की प्रणयी इन्द्रजीत सिंह के द्वारा बाग में नहीं रखी जा सकती थी और न काव्य कला की शिक्षा के योग्य हो हो सकती थी, अतएव हम श्री पुरुषोत्तम शर्मा से जिनका मत सरोजकार और श्री वसु के उल्लेखों पर आधारित है, सविनय सहमत नहीं हैं, जबतक अन्य प्रमाण इन तथ्यों के समाधान के लिये जन्मकाल का नहीं मिलता, तब तक बुन्देल वैभव में दिया गया जन्मकाल सं० १६३० (१५७३ ई०) ही अधिक सुसंगत लगता है। बुन्देल वैभव में दिये गए दो पद यहां उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं करसकते, निश्चय ही भाव सौन्दर्य, एव काव्य की कलात्मकता देखते और मनन करते ही बनती है—

(१) सीतल समीर ढार मज्जन कै घनसार
अमल अगौछे आछे मन तैं सुधारिहौं
दैहौं न पलक एक लागन पलक पर
मिलि अभिराम आछी तपन निवारिहौं
कहति प्रवीनराय आपनी न ठौर पाय
सुन बाम नैन या बचन प्रतिपारिहौ
जबहिं मिलैंगे मोहि इन्द्रजीत प्रान प्यारे
दाहिनी नयन मूंदि तो ही सौं निहारिहौं२१

इस मुक्तक में प्रवीणराय अभिसारिका के रूप में उपस्थित होती है, और वह मन ही मन यह वचन अपने ही अभिन्न साथी बाम नेत्र को देती हुई सप्रतिबन्ध प्रतिज्ञा करती है कि यदि प्रणयी इन्द्रजीत अभिसार स्थल पर न मिले तो, फिर जब भी मिलेंगे, उन्हें मैं केवल बाम नेत्र से ही देखती रहूंगी और दाहिने नेत्र को बन्द कर लूंगी, अर्थात् उन पर सदा टेढ़ो नजर रहेगी, सदा कोप रहेगा, और सीधे नेत्र से देखना—प्रेयसी की कृपा कोर बन्द रहेगी। इस मुक्तक में आपनी न ठौर पाय, यही पाठ बुन्देलवैभव (प्रथम भाग : सं० गौरीशंकर : संस्करण प्रथम सं० १९९) में दिया गया है, किन्तु श्री लोकनाथ सिलाकारी के उद्धृत लेख में आपुनीनु लिखा है, यदि अभिसार स्थल पर मिल जाते हैं तो आगे का भाव ही समाप्त हो जाता है, अतएव आपनी न, पाठ हो समीचीन है। दूसरा मुक्तक है—

---

२१ बुन्देलवैभव, प्रथम भाग, खंड ३, पृष्ठ २४३ लगा २४७, संपादक गौरी शंकर, सं० १९९० प्रथम संस्करण, आगरा से प्रकाशित।

कूर कुक्कुट कोटि कोठरी निवारि राखौं
    चुन दै चिरैयन कौं मूदि राखौं जलियों
सारंग मैं सारंग सुनाइ के प्रवीन बीना
    सारंग दै सारंग की जोति करौं थकियों
बैठि परियंक पै निसंक ह्वै कैं अंक भरौं
    करौंगी अधर पान मैनमत्त मिलियों
मोहि मिले इन्द्रजीत धीरज नरिन्दराय
    ए हो चंद आजु नैक मंद गति चलियों।

प्रणय की कठिन साधना से तो प्रणयी प्राप्त हुए किन्तु वह भी इन्द्र+जित ! और धैर्यवान ! यह पुरुष के गुण हो सकते है किन्तु प्रणयी के नहीं, कदाचित इसीलिये प्रवीणराय आज इन्द्रजीत के समागम की रात्रि को भोर में न बदल पाने के लिये चिन्तनशील एवं प्रयत्नशील है। वह चाहती है कि मुर्गे की आवाज बहुत तीक्ष्ण होती है, उसे एकाध कोठरी में बन्द करने से काम नहीं चलेगा, वह अनेक कोठों को अपनी आवाज से बेध देगा, अतएव उसे करोड़ कोठरी में बन्द कर दिया जाय जिससे भोर सूचक बांग न दे सके और इन्द्रजीत का चित्त उचट जाये ? चिड़ियों की चुहचहाहट का भी प्रबन्ध करना चाहती है, उनको चुन देकर किसी जाली में बन्द रखना चाहती है जिससे वह चुगती रहें और आवाज न करें, चन्द्र रथ को स्तम्भित करना चाहती है, उसके वाहकों को वीणानाद सुनाकर मोहना चाहती है, और दीपक को भी बुझा देना चाहती है, निविड़ निशा में अद्वैतावस्था में, प्रिय के समागम में—समाधिस्थ रहना चाहती है।

यह है विदुषी प्रवीणराय पातुर की काव्यकला, यह है प्रवीणराय की निश्छल अभिव्यंजना, जिसने बिना किसी आड़ या लाग लपेट के अपने प्रणयी के माध्यम से विशुद्ध काम की निष्पत्ति की है। यह बुन्देलखण्ड की कलाधिष्ठात्री पातुर 'नर्त्तकी' को नारीत्व की झांकी—जिसके गरिमामय पदाघात से सामान्या की वरणीय मुगल सम्राट जैसे अतुल वैभव, विलास सम्पन्न एवं प्रभुतामय व्यक्तित्व भू लुण्ठित दिखाई देते हैं। यह है ओरछा की पातुर का सत जिस पर हजार सतियां न्योछावर हैं।

प्रवीणराय पातुर नाम की एक और कवयित्री

अगरचन्द नाहटा

संस्कृत हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का अधिकांश साहित्य निर्माण पुरुषों द्वारा ही हुआ है, यद्यपि स्त्रियों में भी कई बहुत अच्छी कवयित्रियां हो गई हैं, पर उनकी रचनायें बहुत थोड़ी ही मिलती हैं और जो मिलती हैं, उनका प्रचार भी विशेष नहीं हुआ। हिन्दी साहित्य निर्माता कवयित्रियां बहुत-सी हो गई हैं। पर उनमें अधिकांश राजघरानों से संबंधित हैं। प्रथमत· रानियों और उनकी संबंधित राजघराने की अन्य स्त्रियों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध होता था और उन्हें पठन-पाठन के लिये समय भी अधिक मिलता था इसलिये वे काव्य निर्माण करने के योग्य बन जाती थीं। दूसरा आसपास के वातावरण का भी प्रभाव उन पर पड़ता था। राजाओं और दरबारी कवियों की साहित्य चर्चा से भी वे प्रभावित होती थीं और दूसरों के अनुकरण में कविता लिखनी प्रारम्भ कर देती थीं।

विश्वभारती पत्रिका खण्ड ८ अंक १ में श्री पुरुषोत्तम शर्मा का एक लेख 'प्रवीणराय पातुर और उनका काव्य' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, उसमें आचार्य कवि केशवदास द्वारा प्रशंसित ओरछा की पातुर प्रवीणराय और उसकी कविता के संबध में प्रकाश डाला गया है। ओरछा नरेश कुंवर इन्द्रजीतसिंह की प्रेयसी प्रवीणराय के अतिरिक्त इसी नाम की एक और प्रवीणराय पातुर राजस्थान में हो गई है। उसकी भी कुछ रचनायें बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में विद्यमान हैं। अलवर के महाराजा विनयसिंह बड़े बुद्धिमान, दूरदर्शी, साहित्य, कला-प्रेमी और रसिक थे। उन्होंने अलवर राज्य की अच्छी प्रतिष्ठा जमाई और संवत १८७१ से १९१४ तक, ४३ वर्ष उन्होंने राज्य किया। संवत १९१४ की गदर में उन्होंने अंग्रेज सरकार को अच्छी सहायता की थी और उसी वर्ष उनका देहान्त हो गया। महाराजा विनयसिंह के अनेक रानियों के अतिरिक्त कई रखेलियां भी थीं, उनके नाम भी बड़े सुन्दर रखे गये थे। चितलगन, रसवेलि, रतनजोत, छोटी चम्पा, मनभावन, केलकी, आदि नाम महाराजा की रसिकता के परिचायक हैं। उनकी पातुरों में प्रवीण राय सबसे अधिक प्रेमपात्री थी और साथ ही कवयित्री भी। उसकी दो रचनायें प्रवीण-प्रकास और सभा-प्रकाश प्राप्त हैं। प्रवीण-प्रकास में मंगलाचरण के बाद यह दोहा है—

> नाम प्रवीण प्रकाश है, बरननि कर चित लाय।
> अलवर गढ़ मेवात-पति, नरु वंश सुख दाय॥

महाराजा विनयसिंह स्वयं भी कवि थे। उनके रचित पद्यों में 'रसिक छैल' की छाप मिलती

है और प्रवीणराय की रचनाओं में 'रसिक प्रवीण' की। कुछ पद्यों में रसिक छैल और रसिक प्रवीण दोनों नाम हैं।

महाराना के रचित कुछ दोहों में प्रवीणराय को, प्यारी के रूप में सम्बोधित किया गया है। इससे विनयसिंह और प्रवीणराय पातुर के विशेष प्रेम-संबंध का पता चलता है। दोनों के कुछ दोहे नीचे दिये जा रहे हैं—

'प्रवीन पियारी' दरस दे, मैं सुमरत हुं तोय।
चित्तनुं चेटक लगि रही, क्या कर दिया मोय ॥१
बेदर्दी दिलदार हैं, 'प्रवीन पियारी' पास।
निस दिन रटना रटत है, फसी प्रेम की फांस ॥२
टुक मुखड़ा दिखलाया दे, उदत भयो ज्युं चंद।
'रसिक छैल प्रवीन' पी, लखि चित्त होत आनंद।३
मदमती मन भावती, सुनि विनती 'प्रवीन'।
'रसिक छैल' मन बसि रही, ज्युं जल संग सुख मीन ॥४
रसिक छैल' संग मोहता, पातुर परम प्रवीन।
चकवा चंद प्रकास ज्युं, दीपक पतंग सु लीन ॥५
रसिक छैल प्रवीन' प्यारी, लगन लई बड भागन में।
मैं गरीब कम नशीब हूं, तुम हो रसिक 'प्रवीन' ॥६
पराधीन बलहीन हूं, चरम सरण आधीन।
'रसिक छैल प्रवीन' पियारी, तन की तपत मिटा जा ॥७
'प्रवीन' पिया में प्रान बसत है, रसिक छैल ये रसिक भई री।
'रसिक छैल प्रवीन' पियारी, मन ले गई लाखन में हरि के ॥८

इसके उत्तर में प्रवीणराय ने कहा—

'रसिक छैल' पी प्रान पियारे, दगन लगन ये सरस लगी।
'रसिक छैल' पी गैल न छाडै, मदन मंत्र पढ़ि दीना ॥

प्रवीणराय ने अलवर के राजवंश के संबंध में निम्नोक्त दोहों में प्रकाश डाला है—

प्यारो म्हान लागै अलवर देस।
अब मैं बरननि करत हूं, सूरज वंश उदोत ॥१

देह धरम धारी सब, रघुकुल मंडन जोत।
अलवर गढ़ मेवात पति, नरु वंश सिरताज ॥२
.. . .
कछप कुल प्रतापसिंह कीरत करन समाज ॥३
मौहीवत सिंघ घर नौबत बजै, प्रगटे सुत प्रताप।
तेजन मैं ज्यूं सुरपति, पूरन पुन्य सुआप ॥४
हुये न कोई हौंयगे, वीर प्रताप समान।
दल दंडन मंडन नृपति, बल बुद्धि बलवान ॥५
श्रीप्रताप नरेश के, प्रगटे सुत बखतेस।
वेद विदित साखी सबै, सुंदरी सुखद दिनेस ॥६
बखत भलौ बखतेस कौं, अमल चैन सुखराज।
कुल बल अति आनंद से, सदा सुरंगे साज ॥७
श्रीबखतेस नरेस के, सुत सुन्दर विनयेश।
जब लगि रवि ससि गगन मैं, सुजस धजा चहुँ देस ।८
श्रीविनयेस नरेस जू सुत, कारन करि जोर।
गिरजा पति सौं बीनती, बहुविध करत निहोर ॥९
आरत ह्वै स्वारथ पग्यो : दीन बंध प्रभु टेर।
निजि जन के कारज किये, अब क्यूं कीनी देर ॥१०
विनै सुनत विनयेश की, पुत्र दियो शिवराज।
जग सूरज कुल की निशा, रसिक प्रवीन सिरताज ॥११

प्रवीणराय रचित कुछ पद्यों में महाराजा विनयसिंह के पुत्र सुजानसिंह के चिरंजीव रहने की अभिलाषा व्यक्त की गई है। शिवदानसिंह संबंधी एक पद्य में उनके नाना और मामा का नाम भी प्रवीणराय ने दिया है।—

नाना नृप अमरेश नरेशा, भान प्रकाश भलाई है।
जाकि जोति जगत जग जाहर, मामा माधोसिंह सुखदाई है।

'प्रवीन प्रकाश' कोई निश्चित योजना से बनाया हुआ ग्रन्थ मालूम नहीं देता। समय-समय पर जो पद रचे गये, उनके संग्रह का ही यह नाम दे दिया गया है। प्रवीणराय

की एक और रचना 'सभा प्रकाश' की भी एक प्रति, जो अपूर्ण है, अनूप संस्कृत लायब्रेरी में है। जिसमें २५ पत्र हैं और नम्बर १३९ है। अलवर संग्रहालय में, सम्भव है, इसकी पूरी प्रति मिल जाय तथा अन्य रचनायें भी प्राप्त हों।

अलवर का राजकीय हस्तलिखित संग्रहालय संस्कृत और हिन्दी रचनाओं का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थालय है। संस्कृत ग्रन्थों की एक सूची बहुत वर्ष पहले निकली थी और अरबी फारसी के ग्रन्थों की सूची भी अलवर म्युजियम से निकल चुकी है। हिन्दी की हस्तलिखित प्रतियों की सूची प्रकाशित की जानी आवश्यक है।



विदुर प्रजागर परिचय

गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

विदुर प्रजागर (छंदोबद्ध) ग्रंथ के रचयिता कृष्ण कवि सनाढ्य ओरछा (म० प्र०) के निवासी थे। उनका जन्म और कविताकाल अनुमानत क्रमशः स० १७५० और १७७५ वि० माना जाता है।

मिश्र-बन्धु विनोद (तृतीय भाग) में उनका निम्नलिखित विवरण है :—

नाम (१९५८) कृष्ण

ग्रंथ—विदुर प्रजागर

जन्मकाल—१८७०

कविताकाल—१९००

विवरण—साधारण श्रेणी। यह कृष्ण कवि बिहारी सतसई के टीकाकार की रचना है।

बुन्देल-वैभव (अथवा बुन्देलखण्ड के हिन्दी-कवियों का साङ्गोपाङ्ग इतिहास) (द्वितीय भाग)[1] पृष्ठ ३९६ पर कृष्ण कवि का विशेष विवरण प्रकाशित है। उसके अनुसार उनका जन्म और कविताकाल उपरिलिखित ही ठीक प्रतीत होता है। मिश्र बन्धु विनोद में दिए गए दोनों ही विवरण अशुद्ध हैं, क्योंकि कृष्ण कवि ने स० १७९२ वि० में विदुर प्रजागर की रचना की थी और उसके पूर्व धर्म सवाद ग्रंथ भी उन्होंने रचा था।

विदुर प्रजागर (छंदोबद्ध) ग्रंथ कृष्ण कवि ने राजा भारजमल्ल की आज्ञानुसार लिखा था। हस्तलिखित प्रति के अंत में उल्लेख है :—

विदुर प्रजागर मैं करौ, यह भाषा मन लाइ ,
पढ़ै गुनै समझै सुनै, ताकौ पाप बिलाइ ॥३३॥
सकल कथा इतिहास कौ, भारथ कहियत सार ,
ताहू मैं उद्दिम परब, तामैं विदुर विचार ॥३४॥
राजा आरजमल्ल की, आग्या अति हित जान ,
विदुर प्रजागर कृष्ण कवि, भाषा करौ बषान ॥३५॥
मैं श्रुत ही टीठी करी, कवि कुल सरल सुभाइ ,
भूल चूक कछु होइ सो, लीजे समुझ बनाइ ॥३६॥

---

१. 'बुन्देल-वैभव ग्रंथमाला', शङ्कर-निवास, झाँसी से प्रकाशित।

सत्रह सै अरु बानवै, संवत कातिक मास ;
सुकल पक्ष पाँचैं गुरौ, कीनौं ग्रंथ प्रकास ॥१७॥

इति श्री महाभारते उद्योग पर्वन विदुर प्रजागरे धृतराष्ट्र संवादे नवमोध्याय ॥९॥ इति श्री विदुर प्रजागर संपूर्ण ॥ मिती वैशाख सुदि ७ संवत् १९१२ ॥ मुकाम बानपुर ॥ लिष्यातं पं० श्री चौबे रामप्रसाद ॥ राम ॥

विदुर प्रजागर के ९ अध्यायों में ६२६ छंद हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रथमाचार्य कवीन्द्र केशव की शैली का अनुकरण कर कृष्ण कवि ने अपने ग्रंथ में अनेकानेक छंदों का प्रयोग किया है। भाषा सरल, सरस और सुबोध है। अनेक स्थलों पर अलङ्कारों की छटा है। बुन्देली शब्दों को भी कुशलतापूर्वक कविता में स्थान दिया गया है।

विदुर प्रजागर ग्रंथ के प्रत्येक अध्याय से कुछ छंद, पाठकों के मनोरञ्जनार्थ एवम् ज्ञान-वर्द्धन के लिए प्रस्तुत हैं :—

सुमन सदन सिंदुर बदन, एक दंत वरदान।
घन रुचि विघन विपत्ति सब, गनपत मोदिक पान ॥
सरध सुधानिधि बदन दुति, सुमिरौं सारद माय।
जाके कृपाकटाक्ष थै, विमल वुद्ध अधिकाय ॥
वंदौं गुर गोविंद के, चरन कमल सविलास।
कहौ जथा मति वरन कछु, भारथ मति इतिहास ॥
धृतराष्ट्र सौं विदुर ने, कह्यो कछू सवाद।
कहति कृष्ण भाषा वरन, सुनत विलाइ विषाद ॥
नाग नगर महि पै बसै, कुर बंसी तहँ भूप।
तिनके जस की जोति जग, जगमग रही अनूप ॥
महाराज संतन भए, तिह्नो बंस विख्यात।
सामदीप नव षंड में, मंडित गुन अवदाति ॥६॥

पद्धरी

सुति भए तीन तिनके प्रचंड।
इक भीषम उदिति बल अखंड ॥
तिन तत्व सार जिय मैं विचार।
निज राज छाँड़ पर पद निहार ॥

सब विषय वासना दई आर।
उर धर्म धार नहि करिव नार॥
दूजौ चित्रांगद तेज रुद्र।
गंधर्व साथ किन करव जुद्ध॥
तहँ जुद्ध करत तिहि भयौ काल।
लघु भौ विचित्रवीरज नृपाल॥७॥
नृप विचित्र राजा भयौ, तिहि कुल तेज निधान।
उदय अस्त लग भवन पर, तिनकी मानत आन॥८॥

तोटक

पुन ता नृप के सुत तीन भये।
मुनि व्यास कृपा कर आप दये॥
धृतिराष्ट्र सु पंड बली मनिये।
विदुरौ हरि भक्तन में गनिये॥९॥

सोरठा

धृतराष्ट्र हु द्रग हीन, विदुर भये दासी गरभ।
राजा पांडि प्रवीन, राजनीति के मति करै॥१०॥

तोमर

तिहि देस भूपति पंड।
अति हो भयौ बलवंड॥
सब सत्र षंड प्रचंड।
महि जीतियौ नवषंड॥
छिति मौ कियौ तिहिराज।
दिन ज्यौं भयौ सुरराज॥
इक द्वैस के चित चाउ।
म्रग आ गयौ कुर राउ॥
रिषि आपनी तिय संग।
मग ह्वै रचौ रति रंग॥
सर मारियौ इक तान।
तिहि प्रान को भई हान॥

कहि बैन यौ अति दीन
यह श्राप भूपहि दीन ॥
रति त्यौं करै तिम साथ।
बिन प्रांत ह्वै नर नाथ ॥
मृग श्राप भूप विचार।
अपनौ कियौ उर धार ॥
मन में भयौ सु उदास।
बन में कियौ तिहि बास ॥११॥

दोहा

पंडु उभय पतिनी सहित, विपिन गये तज साज।
धृतराष्ट्र हु लागौ कारन, महि मंडल कौ राज ॥१२॥
धृतराष्ट्र हु नृप के तनय, भए एक से एक।
दुरजोधन तिन में बड़े, अभिमानी अविवेक ॥१३॥

द्वितीय अध्याय

धर्म सुनौ चाहत कछू, वचन परम कल्यान।
विदुर हमारे बस मैं, तुम पंडित गुनवान ॥१०॥

विदुर उवाच

पंडित मूरख जगत मैं, ह्वै मनुष्य की बान।
महाराज तिन के प्रगट, लच्छन कहौं बखान ॥११॥

रोला

सेवै जान प्रशस्त निंद आचरनन छंडै,
अस्त बुद्ध चित धरै, सदा सरधा मत मंडै,
क्रोध हर्ष अरु दर्प, खैंचि चित सकै न जाकौ,
लाज न कबहूँ तजै, नाम पंडित है ताकौ।
जाके मन कौ कृत्य मंत्र कोऊ नहिं जानै,
भयौ काज देखिये प्रगट सब जगत बखानै,
मान्य आप कौं मान, गरब मन मैं नहिं ल्यावै,
ये छलि छिप्यै न मनहिँ, नाम पंडित सो कहावै ॥१२॥

दोधक

भूतल के सब तत्वहि जानै,
कर्मन के सब जोगहि ठानै ।
प्रानन के जु उपाइ उपावै,
सो नर पंडित नाम कहावै ।
बात कहै अरु तरकहि जानै,
दिव्य कथा इतिहास बषानें ।
बुद्धि नई नई जो उपजावै,
ग्रंथहि देषत अर्थ बतावै ।
जा मत के सँग सास्त्रहि लागैं,
सास्त्रहि के सँग जो मत पागैं ।
जो मरजाद तजै न पुरानी,
सो कहिये नर पंडित ग्यानी ॥१९॥

तृतीय अध्याय

विदुर उवाच

कुण्डलिया

रथ सरीर या पुरुष को, इन्द्री ताके बाज ,
रथी विराजत आतमा, चक्र मनोरथ साज ।
चक्र मनोरथ साज, बाज अति च चल आही ,
जितही कौ मुँह परै, खैंच तितकौ लै जाही ।
ग्यान रज्जु सौं बाँध, धीर जो करै आप हय ,
कठिन पंथ संसार, भलै पहुँचै ताकौ रथ ॥५८॥
जाके घोरा अनसधे, और स्वारथी क्रूर ,
ताकौ रथ पहुँचे नहीं, होइ बीच ही चूर ॥५९॥
लषै अनर्थहि अर्थ में, अर्थ अनर्थ हि जान,
सो मूरष संसार में, लेत दुषै सुष मान ॥६०॥
धर्म कर्म को छोड़ जो, इद्रित के बस होइ,
बाम धाम धन मान कौ, नास लहै नर सोइ ॥६१॥

चतुर्थ अध्याय

विदुर उवाच

दोहा

जो कछु सब प्रानीन सौं, होइ सरलता माइ ;
सब तीरथ अभिषेक तैं, या कौ अधिक प्रभाइ ॥२॥
रिजता कहिये जान यह, पुत्रन मैं महाराज ;
सुजस होइ इहि लोक मैं, अंत स्वर्ग सुख साज ॥३॥
जो लौं जग मैं पुरुष की, कीरत रहत प्रकास ,
तौ लौं सुष सौं कहत नर, स्वर्ग लोक कौ वास ॥४॥
फूली सुबरन फूल महि, है बहु रतन समेत .
पंडित सुश्रूषक सुभट, ऐ तीनौ चुन लेत ॥७१॥
करम जो कीजत बुद्धबल, तिनको उत्तम जान ।
किये बाहुबल होत जे, मध्यम तिनहि बषान ॥७२॥

पंचम अध्याय

विदुर उवाच

छंद तिलका

बिन वेद पढ़ै, बिन ग्यान बढ़,
बिन लोभ तजै, बिन राम भजै ।
दम हीन हियै, तप हू न कियै ।
सब कोई कहै, नहिं सांत लहै ॥४८॥
अभय होत है बुद्ध तैं, तप तैं बाढ़त जोत ;
ग्यान होत गुर सेव तैं, सांत त्याग तैं होत ॥४९॥
दान पुन्य आश्रय तजै, चहत वेद फल नाहिं ,
राग द्वेष छांडे फिरत, मुक्त मुदित मन माहिं ॥५० ॥
क्रूर करम तैं होत धन, सकुल बिनासै हाल ;
सुकरम सौं धन जोरिये, सो निबहै बहुकाल ॥६९॥

षष्ठम अध्याय

विदुर उवाच

कवित्त

घात करै सरनागत कौ, दुज अत्य हरै करै बारनी पानै ,
नीच कौ आयुस सीस धरै, गुर सै अरमैरत दासी सौ मानै।
बिग्रह संकट मैं बठवै बिसवासै हनै छल मीत सौं ठानै ,
पातक ते मन मैं न डरै इतने दुज घातक वेद बषानै ॥८॥

दोहा

ये दुज घातक तुल्य नर, वेद पुकारत मित्त ,
इन सौं संगत होइ जौ, कीजै प्राइश्चित्त ॥९॥

छंद मल्लिका

नीत रीत मैं सुजान, अस्त बुद्धि देत दान ।
सत्य संग है प्रबीन, जे रहै सदा अदीन ।
अर्थ जे करे अनेक, जेहि पै धरि विवेक ।
जे सुसील है कृतग्य, जे मृदुल सुभाव प्रग्य ।
माँग लेत चार बान, जग्य सेष अन्न षात ।
जे करें न जीव घात, ते सदेह स्वर्गजात ॥११॥

सप्तम अध्याय

विदुर उवाच

दोहा

आपु तुल्य जिय जानिये, ताहि सौंपिये थाइ ,
षेती तब ही होइ जब, आप देषिये जाइ ॥१५॥
जाके सील सुभाउ कौ, भेद न पावै कोइ ,
कियौ चहै सोई करै, ताके बस महि होइ ॥२८॥
देव विप्र राजा स्वजन, रोगी बूढ़े बाल ;
निग्रह कीजे क्रोध कौ, इन सौं सदा नृपाल ॥१२॥
जे न करत कबहूँ कलह, अल्प प्रयोजन अर्थ ;
तिन की कीरत जग बढ़त, रच न लहत अनर्थ ॥३१॥

सोरठा

सदा विफल ह्वै जाइ, जाको कोप प्रसन्नता ;
मृत्य न चाहत ताह, ज्यौं षोजा पत कौ तिया ॥३४॥

अष्टम अध्याय

विदुर उवाच

कुंडलिया

बिनती प्रभु तुम सौं करी, मैं तब ही पग लाग ,
दुरजोधन जा दिन भयौ, याह देउ तुम त्याग ।
याह देउ तुम त्याग, पुत्र सत सुख सौं राखहु ,
सत कुल ह्वै है नास, याह एकन अभकाषहु ।
अलप लाह बहु लाभ, कीना बहु बिनती ,
अब होत छय रूप, कहूँ सुनिये प्रभु बिनती ॥७॥

दोहा

सुनै बचन देषै दगन, कीनौ काज निहार ,
अपनी मत सौं परण तब, माषै मंत्र विचार ॥३२॥
अनुसूया धीरज छमा, मृदुता सरल सुभाइ ,
मित्रन कौ सनमान गुन, इते बढ़ावत आइ ॥४१॥

नवम अध्याय

विदुर उवाच

दोहा

अनासक्ति उत्तम करन, करत जु सक्त समान ,
ते जग मैं सत्वर लहत, सुजस संत परमान ॥१॥
और न या संसार मैं, दूजी गत दरसंत ,
सरनागत कौ होत है, ज्यौं सुषदायक संत ॥२॥

सोरठा

तजत बढ़ेउ अर्थ, निरष अनीत अधर्म जुत ,
सुष ही दुष य समर्थ, छोड़त ज्यौं अहि कंचकी ॥३॥

छंद दोधक

अम्र अथाह न काटहि पावैं,
धावैं न सिंध नदी सब आवैं।
भूत हनै जमुहार न मानै,
भोग ते कामिनी तृप्त न आनै ॥८॥

दोहा

तजि अनीत गहि नित्य प्रभु, धरौ हिये संतोष ,
परम लाभ संतोष है, तातें कहिये मोष ॥१२॥

इत्यादि

इस जनपद के गाँव-गाँव और घर-घर में हस्तलिखित ग्रंथ बस्तों में बँधे हुए नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने ग्रंथों के उद्धार का प्रशंसनीय कार्य किया है, किन्तु यह इतना बड़ा कार्य है—जिसको केवल एक दो संस्थाएँ पूरा नहीं कर सकतीं। आवश्यकता यह है कि अखिल भारतीय स्तर पर आयोजनाएँ बना कर कार्य किया जाय जिससे यह राष्ट्रीय निधि सुरक्षित होकर प्रकाश में आ सके।

चीन की तुङ्‌ ह्वाङ्‌ बौद्ध गुफाओं की यात्रा§

धीरेन कृष्ण देववर्मा

कलकत्ता से पीकिङ्‌ शहर

बहुधा मनोवांछित सुयोग लाभ की आशा, साध्य और साधना के एकजुट होने पर भी नहीं मिलती है। फिर भी कभी-कभी, अनायास ही किसी देवता के प्रसन्न होने पर बहुधा अप्रत्याशित सुयोग बड़ी ही सुगमता से हाथ में आ जाता है, जिसकी कहानी सोचते हुए भी बार बार अवाक् रह जाना पड़ता है। मेरे चीन देश भ्रमण का यह अप्रत्याशित सुयोग ऐसा ही प्रसंग है। चीन देश के शिल्प के संबंध में मैं अपने मन में बार-बार ऊँची धारणा बनाता था, इसलिए इस देश को देखने का आग्रह हमेशा से था। स्वर्गीय डाक्टर निरंजन प्रसाद चक्रवर्ती उन दिनों भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के निर्देशक पद पर आसीन थे। इस पद पर आसीन होने के कुछ समयोपरान्त चीन देश और विख्यात बौद्ध सहस्रगुफा 'तुङ्‌ ह्वाङ' के भित्ति चित्रों के परिदर्शनार्थ उन्हें वर्तमान चीन सरकार का आमंत्रण प्राप्त हुआ। उस समय विश्वभारती के आचार्य स्वर्गीय प्रबोधचन्द्र बागची ने मुझे एक दिन बताया कि उनके मित्र डाक्टर निरंजन प्रसाद चक्रवर्ती 'तुङ्‌ ह्वाङ्‌' जा रहे हैं और उन्होंने मुझे उनके साथी के रूप में वहाँ ले जाकर वहाँ के विविध भित्ति-चित्रों की नकल कराने की इच्छा प्रकट की है। इस प्रसंग में पहले तो मैंने आना-कानी की थी, परन्तु अन्त में अपनी सहमति देनी पड़ी। मुझे अपने पार-पत्र एवं विमान के टिकट आदि संग्रह करने में कोई अधिक जल्दीबाजी नहीं करनी पड़ी। व्यवस्था यह हुई कि डा० निरंजन प्रसाद चक्रवर्ती और उनकी श्रीमतीजी बम्बई से जहाज पर चढ़कर हांगकांग होते हुए जायेंगीं और मुझे दमदम हवाई अड्डे से विमान पर चढ़कर उनके साथ वहीं मिलना होगा। मैं कलकत्ते जाकर बी० ओ० ए० सी० के कार्यालय में रात्रि बारह बजकर पैंतीस मिनट पर उपस्थित हुआ एवं सुबह चार बजे दमदम हवाई-अड्डे पर से विमान द्वारा रवाना हो दिनांक २४ अगस्त, १९५५ ई० को रंगून हवाई अड्डे पर पहुंचा। उस समय

---

§ श्री धीरेन कृष्णदेव वर्मा शान्तिनिकेतन के कलाभवन के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा देश के प्रसिद्ध कलाकार हैं। सन् १९५५ में वे चीन सरकार के निमंत्रण पर तुङ्‌ ह्वाङ्‌ गुफाओं के बौद्धचित्रों के अध्ययन के लिए गए थे। अपनी उस यात्रा का उन्होंने विस्तृत विवरण उसी समय लिख लिया था। अपनी यात्रा से संबंधित कुछ चित्र भी लिए थे। भित्ति चित्रों के भी कुछ चित्र लिए थे। उनकी यात्रा के इस विवरण को हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। —संपा०

मेरी घड़ी में सुबह के पांच बजे थे, स्थानीय समय तब छः बजकर, पैंतीस मिनट हो चुका था। यहीं हाथ-मुंह धो जलपान से निवृत्त हुआ। इस स्थान को छोड़ने के बाद संध्या छः बजकर १५ मिनट पर हांग-कांग पहुंचा।

डा० साहब और उनकी श्रीमतीजी मेरे पूर्व ही वहां उपस्थित थीं। 'मिरा मार' नामक एक स्थानीय बड़े होटल में रात्रि बिताकर, दूसरे दिन २५ अगस्त को 'कैंटन' जाने के उद्देश्य से हम रवाना होने की तैयारी में जुट गए। हांग-कांग की सीमा पर एक ब्रिटिश शहर है, 'लु—हे', सुबह के० सी० आर० रेलगाड़ी पर चढ़कर उस स्थान से हम चीन के एक शहर 'कैंटन' की ओर बढ़े। एक-एक कर छः रेलवे स्टेशनों को पारकर पूर्वाह्न ११ बजकर २५ मिनट पर जब गाड़ी 'कउलन' स्टेशन पर रुकी तो हमें उस पर से उतर जाना पड़ा। हमारे सहयात्रियों की संख्या अत्यल्प थी। यहां ब्रिटिश राज्य समाप्त हो गया। काष्ठ-निर्मित एक छोटे से पुल को पार करने के उपरान्त चीन राष्ट्र के एक प्रान्त की सीमा पर 'सुमचुन' नामक एक रेलवे स्टेशन में आकर हम इकट्ठे हुए। दूसरे राष्ट्र में प्रवेश करने पर चुंगी आदि की नियमावली के अनुसार हमें अपने साज-सामानों की लिखित जानकारी देनी पड़ी। स्टेशन पर ही हमारे दिन के भोजन की व्यवस्था थी। वहीं अपराह्न २ बजकर, ४५ मिनट पर रेलगाड़ी से पुन हम रवाना हुए। रेल पथ के दोनों ओर धान के विस्तृत खेत थे और बीच-बीच में छोटे-छोटे चीनी गांव अवस्थित थे। घरों के समीप ही केले, अदरख, झींगा आदि के पेड़ों पर पीले रंग के फूल खिले थे, मन में आया, जैसे मैं बंगाल के भीतर ही कहीं जा रहा हूं। पेड़ पौधों की नस्ल देखकर अनुमान जगा कि इस देश की मिट्टी बहुत उर्वरा है। प्राय' छः बजकर, तीस मिनट पर हम 'कैंटन' शहर पहुँचे। स्टेशन पर ही कैंटन लोक-सभा कार्यालय के उपप्रधान मि० कियांग यो-चेन, इसी कार्यालय के विदेशी राष्ट्रों के पारस्परिक सांस्कृतिक संबंधों की शाखा के प्रधान मि० गु-नर, दुभाषिया मि० फङ् ने चीन सरकार की ओर से हमारी अभ्यर्थना की। दो छोटी-छोटी बालिकाओं और एक बालक ने फूलों के तीन गुलदस्तों का उपहार हम तीन जनों को दिया। स्टेशन के प्लेटफार्म को छोड़कर जब हम मोटरगाड़ी पर चढ़ने लगे तब वर्दीधारी बहुत सी छात्र-छात्राओं ने श्रेणीबद्ध होकर तालियां बजाईं और हमारा स्वागत किया। पार्ल नदी के किनारे 'भाइ चन' या केन्टेनिस भाषा में 'अई कुवान' नामक सोलह मंजिलों वाले विराट् होटल में हमारे रहने की व्यवस्था की गई। हमने जापानी प्रतिनिधियों के दल को भी इस होटल में आते देखा। चीन के बड़े-बड़े शहरों में कितने ही सुरक्षित होटल हैं, जिनमें चीन सरकार द्वारा आमंत्रित विदेशी अतिथियों के रहने की व्यवस्था की जाती है। 'अई-कुयान' होटल भी उनमें से

एक था। यहाँ आकर बहुत गर्मी महसूस हो रही थी। जुलाई महीने में, कलकत्ता में नमी और उमस का जो अहसास होता है—ठीक यहाँ भी वैसी ही स्थिति थी। प्यास लगी तो कमरे के चारों ओर देखा कि कहीं पेयजल रखा है, अथवा नहीं। एक तौलिए के ऊपर दो बड़े बड़े थर्मस फ्लास्कों को देखकर बड़ा आनंदित हुआ कि अब ठंडे जल से अपनी प्यास बुझा सकूंगा। थर्मस फ्लास्कों को खोलकर देखा तो दोनों में गर्म जल था। घंटी बजाते ही होटल का एक नौकर उपस्थित हुआ। उसे एक थर्मस फ्लास्क देकर संकेतों से बताया कि ठंडा जल ले आओ। उसने सर हिलाकर इशारा किया कि वह मेरी बात समझ चुका है। कुछ देर के बाद थर्मस फ्लास्क ला उसने मेरे हाथ में दे दिया और खड़ा रहा। मैंने एक गिलास ले फ्लास्क खोलकर देखा तो पाया कि वह उसमें खौलता हुआ पानी ले आया था। चीनी भाषा के अलावा दूसरी कोई भाषा उसे नहीं आती थी, अतः बड़ी कठिनाई हुई। संकेत द्वारा ठंडे जल को समझाना व्यर्थ जानकर कुछ सोच रहा था—क्या किया जाय, कि दिमाग में हठात्‌ एक विचार पनपा। कलकत्ता में ही, एक मित्र की सलाह पाकर मैं एक छोटी सी पुस्तक ले आया था। पुस्तक का नाम था—'हाऊ टु स्पीक चायनीज़'—यह चीन देश के भ्रमणकारी विदेशियों के लिए लिखी गई थी। ठंडे जल का चीनी रूपान्तर अंग्रेजी अक्षरों में लिखा था, उसे ही मन-ही-मन दुहरा-तिहरा कर उच्चरित किया। इस बार नौकर किंचित्‌ मृदु मुस्कान के साथ एक फ्लास्क लेकर अंतर्ध्यान हुआ। कुछ क्षण पश्चात्‌ जब वह पुनः फ्लास्क लिए आया तो समझ में आया कि पुस्तक मेरे बहुत ही काम आई है। इस बार वह सचमुच ठंडा जल ही लिए आया था।

रात्रि आठ बजे, होटल के एक विशेष कमरे में हमारे भोजन की व्यवस्था हुई। स्टेशन पर सरकारी पक्ष के जिन तीन व्यक्तियों ने हमारी अभ्यर्थना की थी, वे भी भोजन में सम्मिलित हुए। अनेक प्रकार के सुस्वादु व्यंजन थे। भोजन के अंत में बहुत ही मीठे अनानास एवम्‌ 'कामरौंजों' को प्रस्तुत किया गया। इस समय बहुत ही सौहार्दपूर्ण वातावरण में बातचीत चल रही थी। चीनी सज्जनों द्वारा यह जान पाया कि जिन-जिन मछलियों को हमने अभी खाया है, वे पास की पार्ल नदी से लायी गई थीं। चीन देश की विशाल नदी पीत को दुःखदायिनी नदी कहा जाता है, जिसकी बाढ़ किनारा तोड़कर शहर एवं गांवों को बहुत क्षति पहुँचाती है, यह भी जाना। नदी के दोनों ओर पेड़ लगाकर, जल-संचयार्थ बाँध तैयार कर, इस पीत नदी के पीले जल को—स्वच्छ जल की नदी बनाने हेतु चीन सरकार आज दृढ़-संकल्प है। अतएव, सरकार ने पंचवर्षीय योजना का प्रवर्तन किया है। आगामी दिन, छः बजे ही विमान द्वारा चीन राष्ट्र के प्रधान शहर पीकिङ्‌ जाने के उद्देश्य से रवाना होने की बात

थी, लेकिन विमान में जगह पाना संभव न था, इसलिए हमें कुछ दिन यहीं इंतजार करना पड़ा। बातचीत के क्रम में ही चीनी सज्जनों ने बताया कि चीन राष्ट्र के भ्रमण-काल में भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने चीनी प्रधान मंत्री चू-एन-लाई को भारतीय जामुन वृक्ष की एक नन्हीं पौध भेंट की थी। पीकिङ् शहर में चूँकि बहुत बर्फ पड़ती है, कैंटेन की जलवायु प्रायः बंगाल की ही तरह होने के कारण, वह पौध यहीं की मिट्टी में लगायी गई थी। एक दिन हमलोग उसे देखने भी गए। इसी शहर में हाथी दांत के हस्त-शिल्प-प्रतिष्ठान का अवलोकन करने का सुअवसर भी हाथ लगा। इस काम की निपुणता के कारण 'कैंटेन' की अच्छी प्रसिद्धि है। इस प्रतिष्ठान में पन्द्रह-बीस हस्त-शिल्पी कार्य करते थे। पूछने पर पता चला किसी समय भारतीय हस्तशिल्पियों की तरह उनकी भी ख्याति थी। शिल्पियों को अपने काम के अनुसार हाथी दांत बाजारों से जुटाना पड़ता था। इस दांत से निर्मित शिल्प वस्तु को इसके खरीदारों की खोज में बाजारों में घूमना फिरना पड़ता। काम के समय अस्वस्थ होने पर रोजगार बंद हो जाता और निराहार दिन काटने की नौबत आ पड़ती। सम्प्रति चीन सरकार की सुव्यवस्था के कारण सभी हस्तशिल्पियों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। प्रतिष्ठान में बहुत पूर्व से ही हाथी के दांतों का संग्रह होता था। वर्तमान समय में मूल्य वृद्धि के फलस्वरूप आफ्रीका से इनका आयात होता है। शिल्पियों द्वारा बहुत ही सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं तैयार की जा रही थीं। इनकी बिक्री का दायित्व अधिकारियों पर था। शिल्पियों के बीच यदि कोई अस्वस्थ होता तो उसकी चिकित्सा के लिए प्रतिष्ठान द्वारा चिकित्सकों की व्यवस्था थी। वृद्धावस्था में, जब शिल्पी कार्य करने में अक्षम हो जाते तो प्रतिष्ठान उन्हें निर्धारित वेतन देता था। चूँकि उनके सुख दुःख का दायित्व बहुत दूर तक सरकार वहन कर रही थी, इसलिए उन शिल्पियों को निश्शंक एवं आनन्दमग्न हो अपना-अपना कार्य करते देखा। इस शहर के दर्शनीय स्थलों को देखने के उपरान्त जो समय बच पाता, स्वच्छ होटल के झरोखे से, पार्ल नदी के उस पार किनारे-किनारे बहुत सी स्थिर नौकाओं और जहाजों को चुपचाप बैठे निहारा करता। नदी के जल की धारा की तरह ही जीवन की कार्य-धारा सतत् प्रवाहित होती जाती है। कहीं जहाज पर माल की ढुलाई हुई होगी और अब उसे कहां उतारा जा रहा है। यात्रियों के पंक्तिबद्ध दल जहाज से बाहर निकल कर उस पार व्यस्त-से जा रहे हैं। सुना कि चीन देश में बहुसंख्यक लोग नौकाओं पर ही अपने घर-संसार बसा लेते और इसी में ज़िन्दगी और मौत झेला करते। होटल के झरोखे से जब फैली हुई अनंत जलराशि पर आँखें तिर जातीं तो देखता—दूर नौका की ऊपरी सतह पर, काले कपड़े की चोली कसे, चीनी गृहिणी नदी के जल से अभी-अभी पकड़ी गई मछली को, दोपहर के भोजन के लिए तैयार कर रही है।

कहीं नौकाओं पर छोटे छोटे बच्चे और बच्चियां आनंदित हृदय से खेल रही हैं। सारे दिन बैठ-बैठ कर नदी के जल में उतरते जहाज़ और नौकाओं को देखता और सोचता उनके समानान्तर जीवन का प्रवाह भी गतिवान् है , इस निरोक्षण में मन को बहुत ही प्रसन्नता होती।

१६ अगस्त की सुबह, नाश्ता समाप्त कर चोनी दुभाषिया मि० फङ् के संग हमलोग बाहर खड़ी मोटर कार पर 'कैंटेन' के परिदर्शनार्थ निकले। पहले हम लोग चीन देश के प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता सन्-यात सेन का स्मारक देखने गए। विशुद्ध चीनी स्थापत्य शैली में वह अष्टकोणिक प्रासाद निर्मित हुआ है। इसका निर्माण कार्य सन् १९४९ में आरंभ हुआ था और परिसमाप्ति १९५१ ई० में हुई। भवन की छतरियों का रंग नीला था और बीच का लाल। इसके अंदर ५५०० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था थी। एक दीवार पर, "इस आकाश के नीचे समस्त सम्पदाओं की अधिकारिणी जनता है"—लिखा था। इसे देखने के उपरान्त हम 'पीत वर्ण पुष्प' नामक एक स्थान को देखने गए जो बहत्तर शहीदों का समाधि स्थल था। चोन राज्य को जीतकर मांचूरीय राजागण जब राज्यासीन हुए, तब १९११ ई० के मार्च महीने में इन्हीं बहत्तर शहोदों ने उक्त सरकार के विरुद्ध युद्ध का आह्वान किया और मृत्यु का आलिंगन किया था। अत में, इसी वर्ष के अक्टूबर माह में जनता द्वारा निर्मित सरकार स्थापित हुई। इस स्थान को देखने के बाद काष्ठनिर्मित सुन्दर तोरण की परिक्रमा कर हम कन्फ्यूशियस के एक प्राचीन मदिर में उपस्थित हुए। यह मंदिर सम्प्रति सैन्य-कार्यालय भवन के रूप में व्यवहृत किया जा रहा था। १५०० सौ वर्ष पूर्व,मिङ् राज्य काल में इसका निर्माण हुआ था। चीनी राष्ट्रनायक चियाङ्-काई-शेक के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध जब चीनी कम्युनिस्ट पंथियों ने विरोध किया था, तब १९२६ ई० में माओ-त्से-तुंग और एक उच्चपदस्थ सैनिक पदाधिकारी ने इसी मंदिर में शरण ली थी। माओ-त्से-तुंग द्वारा व्यवहृत द्रव्यादि पहले की तरह ही ठीक से सुरक्षित रखे गए हैं। हमें उनके द्वारा व्यवहृत एक चौकी, जिसपर कोई गद्दा नहीं था, एक मैली टँगी हुई मच्छरदानी और एक काठ का टेबुल दिखाया गया। वे इसी कमरे में बैठे लाल साम्यवादी फौजियों को निर्देश देते और यहीं सलाह-मशविरा करते। इस स्थान से बाहर मि० फङ् हमें पैदल ही एक पांच मंजिलों वाली भव्य इमारत के सामने ले आए। आजकल यह जादूघर (अजायबघर) के रूप में व्यवहृत होता था। इसकी सघटना में विशिष्ट चीनी स्थापत्य कला सुरक्षित थी। १५७० वर्ष पूर्व मिङ् राज्यकाल में इसका निर्माण हुआ। माओ-त्से-तुग की सेना के साथ युद्ध के समय राष्ट्रीयतावादी च्यांङ्-काई-शेक के सैन्यदल ने मजबूत चौकी के रूप में इसका व्यवहार किया था। ऊँचे स्थान पर से युद्ध परिचालित करने की यहां विशेष सुविधा थी। इस स्थान के देखने के बाद, गाड़ी से कुछ

हुए सीधे आकर उतरने पर एक सुन्दर स्नानागार में हम उपस्थित हुए। यह स्थान बड़ी खूबसूरती से सजा कर रखा गया है। प्रवेश पथ पर ही अपने शिक्षक-शिक्षिकाओं के साथ नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं का एक दल बैठा था। कुछ क्षण पश्चात् सबों को एक साथ एकत्रित कर शिक्षकगण उन्हें दूसरे रास्ते ले गये, शायद इसी स्नानागार के अवलोकनार्थ उन्हें लाया गया हो। इन बच्चों की उम्र चार-पांच वर्ष की रही होगी। श्रीमती चक्रवर्ती दो-एक बच्चों के साथ संकेतों द्वारा स्नेह प्रदर्शित करने की कोशिश में लगीं थीं कि अचानक एक बालक ने उनकी घास से बनी टोपी को उछाल देना चाहा। जब वे उस टोपी को उतार कर उसी बालक को पहनाने का उपक्रम करने लगीं तो उस बालक ने बड़ी आपत्ति प्रकट की।

हमलोग एक द्वार होते हुए स्नानागार की ओर बढ़े तो देखा कि द्वार के दोनों ओर कांच के मर्तबानों में लाल-पीले रंग की मछलियां पाली गई हैं। स्नानागार में बड़े-बड़े दो चहबच्चों में स्वच्छ और निर्मल जल भरा था—जिसके ऊँचे किनारों को चारों तरफ सीमेन्ट द्वारा बांध दिया गया था। एक जलाशय के ऊपर एक तरफ सीमेंट का ही एक ऊँचा मंच निर्मित था, जिसके ऊपर से नीचे जल में छलांग लगाई जा सकती थी। महाविद्यालयीय छात्र एवं छात्राओं की एक टुकड़ी तैरने की पोशाक पहने एक साथ कतार बांधकर शारीरिक व्यायाम कर रही थी। इसकी समाप्ति के बाद श्रेणीबद्ध होकर जलाशय के पास ही कुछ समय तक दौड़ने के पश्चात्, वे जो तैरना नहीं जानते थे—किनारे ही उथले पानी में और वे—जो तैराक थे—गहरे पानी में उतर तैरने लगे। उच्छृंखलता एवं शोरगुल का कहीं नामोनिशान न था। ठीक सैनिकों की तरह नियमानुशासनबद्ध एक व्यक्ति के निर्देशानुसार सभी तैर रहे थे। सभी छात्र एवं छात्राओं का शरीर सबल और स्वस्थ दिखा। बच्चों के स्नाननिमित्त एक दूसरे निर्दिष्ट स्थान पर व्यवस्था थी। यहां जल का फव्वारा था जिसके ऊपर से पानी निकल रहा था एवं छोटे-छोटे बच्चों का दल बड़ी खुशी से स्नान कर रहा था, वहां थोड़ा बहुत असंयत व्यवहार स्वाभाविक ही होता, किन्तु इस स्थान पर भी किसी प्रकार का शोरगुल देखा ही नहीं, जिस अनुशासन की श्रृंखला एवं नियमावली का पालन करते हुए हमने पाया उससे यह बात स्पष्टतः समझ में आ गई कि सारी चीनी जाति के बीच आज महान होने की नूतन आकांक्षा और अभीप्सा जग उठी है।

दूसरे दिन सत्ताइस अगस्त की सुबह, एक छोटे से जहाज पर चढ़ एक नदी पार कर, हम उस पार के चङ्‌ सान् विश्वविद्यालय को देखने गए। 'केंटिनिस' भाषा में 'स्थान' को 'सेन' कहा जाता है, पीकिङ या चीन के उत्तरांचल में इस नाम का उच्चारण होगा—चूं-सान्। यह विश्वविद्यालय तीस वर्ष पूर्व स्थापित हुआ है। इसके प्रवेश पथ पर काष्ठनिर्मित एक विशाल

द्वार देख ज्ञात हुआ कि पूर्व 'कैंटेन' में जो 'मुक्तिपथ' नाम का प्रधान पथ है, वह यही स्थान है। राष्ट्रवादी सैनिकों के कब्जे से साम्यवादी सैनिकों ने इसी पथ पर युद्ध करने के बाद कैंटेन शहर का यह अंचल हस्तगत किया था, इसीलिए इसका नाम 'मुक्तिपथ' रखा गया। विश्व-विद्यालय के मुख्यालय की चौहद्दी बहुत बड़ी थी और उसमें आधुनिक शैली के भवन थे। छात्र-छात्राओं की कुल संख्या डेढ़ हजार से भी अधिक थी। 'कैन्टेन' प्रदेश में नौकादि पर जो परिवार अपनी गुजर बसर करते हैं, उनकी सदस्य संख्या साठ हजार के लगभग होगी। इन्हीं परिवार के लड़के लड़कियों ने शिक्षा के प्रति अपनी गहरी रुचि प्रदर्शित की है। विश्व-विद्यालय के अध्यापकों ने हमें जानकारी दी कि उक्त परिवारों की अनेक छात्र-छात्राएं यहां अध्ययनरत हैं। विश्वविद्यालय के समस्त विभागों को देखकर, पहले वाले जहाज पर ही वापस होटल आने को हम रवाना हुए। इस शहर में तीन रात बिताने के पश्चात्, २८ अगस्त की सुबह 'कैंटेन' शहर छोड़कर एक ही दिन में विमान द्वारा संध्या समय, हम चीन की मुख्य राजधानी पीकिङ् शहर में आ पहुंचे। हवाई अड्डे पर चीन सरकार के अनेक गण्यमान्य एवं उच्चपदस्थ पदाधिकारियों ने उपस्थित होकर हमारा अभिनंदन किया। हवाई अड्डे के कार्यालय में उपस्थित होते समय देखा कि भवन की दीर्घा की दीवार पर माओ-त्से-तुंग की एक बहुत बड़ी तस्वीर टंगी है। इसके बाद चीन के अन्य जिन किन्हीं भी हवाई-अड्डों पर गया, सभी जगह इसी प्रकार के विराट आकार का चित्र टंगा हुआ देखा था। इसी के द्वारा देश की जनता में माओ-त्से-तुंग का व्यक्तित्व हमेशा आंदोलित रखा जाता है।

हमारे रहने की व्यवस्था इस शहर के सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट 'विशाल पीकिङ्' नामक होटल में हुई। यहां हमें प्राय डेढ़ महीने से भी लंबे प्रवास के लिए ठहरना पड़ा था। इस बीच निम्नलिखित दर्शनीय स्थलों को देख पाने का सुयोग हाथ लगा।

प्राचीन समय में चीनी सम्राटों का जिस मनोरम स्थान पर निवास था, उनके बहुत से महलों सहित विस्तृत चौहद्दीवाले उस स्थान को 'निषिद्ध शहर' के नाम पुकारा जाता था। इसके चारों ओर ऊँची चारदीवारी खड़ी थी। इस निषिद्ध राजपुरी के प्रवेश पथ में जो पहला और मुख्य द्वार है, उसके चौखट की बनावट विशाल और ऊंचे दोमंजिले भवन के समान थी। इसकी दीवार के अधोभाग में सिंह-द्वार था, जिसके भीतर से आवागमन होता था। इस 'थियेन-एन-सेन' नामक द्वार को पारकर एक प्रशस्त प्रांगण था, जिसके कुछ दूर पर ही एक और द्वार था। प्रांगण के दोनों ओर बहुत से भवन कतारों में खड़े थे। 'थियेन-एन-सेन' शब्द का अर्थ है—'स्वर्गीय शांति द्वार'। दूसरे द्वार को पार करने के बाद, पुनः एक प्रशान्त प्रांगण है, इसी प्रकार एक-एक कर चार द्वारों के अंत में, सम्राट् का विशाल राजदरबार और

प्रासाद है। इसके पार्श्व में, पीछे की ओर एक और सलग्न प्रासाद है, जहां सम्राट दरबार में प्रवेश करने के पूर्व, कुछ समय के लिए विश्राम कर लेते थे। इस प्रासाद से कुछ ही दूर पर सम्राट का निजी महल आरंभ होता है। चीनी स्थापत्य शैली पर ही आधारित इस राजनगर के बड़े-बड़े मनोरम प्रासादों की चार मजिलों वाली इमारतें पीले रंग की चीनी मिट्टी की खपरैलों से बनी थीं। इस रंग के खप्परों का व्यवहार जनसाधारण के घरों के लिए निषिद्ध था। प्रत्येक महल की छतों के चारों ओर कोनों पर, छोटे-छोटे, चीनी मिट्टी से निर्मित अजगरों और आदमियों की मूर्त्तियां स्थित थीं। इस राष्ट्र के वासियों की धारणा है कि इन छोटी-छोटी मूर्त्तियों की शुभदृष्टि के निक्षेप से अमंगलकारी अपशकुनों से घरवालों की रक्षा सभव है। प्रासादों के सम्मुख पत्थरों से घिरे विस्तृत, विशाल और प्रशस्त चारदीवारी के दोनों ओर सुफेद पत्थरों से विचित्र आकृतियों की नक्काशियां जँगलों पर थीं, जो देखने में बड़ी सुन्दर थीं। चारदीवारी के दोनों ओर जँगलों के किनारे एक-एक कर धातुनिर्मित बहुत से चीनी अजगर कतारों में रखे थे। विराट् कछुए की आकृति के प्राणी, धूपदान और गमले भी सुरक्षित थे। इन गमलों की बाहरी दीवारें सोने के पत्तरों से मढ़ी थीं। किसी समय पाश्चात्य देशों के कई राष्ट्रों ने अपना साम्राज्य-विस्तार चीन में किया था, तभी उनके बर्बर सैनिक इन सब गमलों के ऊपर चिपके सोने के पत्तरों को उखाड़कर, चींथकर ले गए। इतने सुन्दर सुन्दर पात्रों के खुरचे हुए आवरण अतीत की नृशंसता की गवाही दे रहे थे। हमें बताया गया कि चीनी सम्राटों के राजकाल में पीकिङ् में अत्यधिक ठंड पड़ने पर इन्हीं सोने के गमलों के नीचे लकड़ी के कोयलों को जलाकर जल गरम किया जाता था। इस निषिद्ध राजनगर की विस्तृत चौहद्दी के भीतर महल के बाद महल, एक प्रांगण के अन्त में एक और प्रांगण, अनेक पथ, सीढ़ियों के बाद सीढ़ियां और लाल रग की दीवारों द्वारा सीमाएँ खींच-खींचकर मानो एक विचित्र सृष्टि ही की गई थी। प्रासाद में कक्ष के अनंतर कक्ष, सम्राट एव साम्राज्ञियों की स्मृति में स्थापित शिल्प-सामग्रियां एव व्यवहृत उपकरण-साधन देखते हुए मन में मात्र यही धारणा शेष रह गई कि सम्राटों ने एक रहस्यमय नगरी की रचना की थी। किसी एक कक्ष में किसी एक व्यक्ति को ले जाकर छोड़ देने पर उसके लिए रास्ता खोज निकालना एक दुस्तर कार्य होता। राजनगरी से जुड़े हुए एक महल के उद्यान में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक विशाल कुंज के दोनों ओर सत्रह सौ से लेकर उन्नीस सौ वर्ष पुराने वृक्षों की गुथी हुई शाखाएँ अपनी टेढ़ी-मेढ़ी डालियों के साथ अपनी प्राचीनता की साक्षी दे रही हैं। उद्यान में पथरीली मिट्टी के बगल में कई स्थानों पर विचित्राकार पत्थर की आकृतियों को सहेजकर रखा गया था, इस प्रकार के सौंदर्य को सर्वप्रथम चीन ने स्वीकृति दी। राजप्रासादों के बहुत से कोठों में पूर्ववर्ती सम्राटों द्वारा

संग्रहीत शिल्प वस्तुओं को सजाकर रखा गया है. काले पत्थर (कृष्णाश्म) की नक्काशीदार कटोरियाँ एवं प्यालियां, प्रकोष्ठों में चीनी मिट्टी के बने हुए सुन्दर पात्र, फूलदान, बेशकीमती पत्थरों से बने आभूषणादि, मणिमुक्ता, सलमे-सितारे टंके वस्त्रादि, तांत पर रेशमी धागों से *निर्मित बड़े-बड़े चित्र और अनेक प्रकार की विविध शिल्प वस्तुओं का संग्रह भी इस स्थान पर* देखा। सम्राट् और साम्राज्ञियों के पृथक्-पृथक् विश्राम और शयन के लिए भवनादि, अभिनय के लिए रंगमहल और प्रदर्शन शाला, राज दरबार के कक्ष में बैठने के लिए बड़े-बड़े रत्नजटित सिंहासन, अपने सभासद मित्रों से घिरे हुए जिस राज सिंहासन पर सम्राट्गण बैठते, वे भी पूर्व की ही भांति सुरक्षित हैं। प्रदर्शन शाला के एक निर्देशक ने बताया कि राजसिंहासन के दोनों ओर जो दो सुन्दर और लंबे मयूर-पंखों से निर्मित चामर हैं, उनका प्रचलन भारत से ही चीन में हुआ था। संग्रहीत वस्तुओं में माङ् राजवंश (१७६३ से ११३५ वर्ष ईसापूर्व) के मिट्टी के बर्तन, कब्र स्थान को खोद कर प्राप्त की गई मूर्तियां, नित्यचर्या में उपयोग होनेवाले अष्टधातु के दर्पण, भोजन बनाने के पात्र, मद्यपात्र आदि भी हैं। ऊँची दीवारों से घेरकर इस विराट् विश्व से अपने को सर्वथा पृथक् रखकर अतीत के सम्राटों ने अपने लिए इस निषिद्ध राज्य की सर्जना की थी। इसी अचल सृष्टि के भीतर सम्राट अपनी साम्राज्ञियों एवं अन्तःपुर (हरम) की कामिनियों को संग लेकर परी-लोक की कहानियों में वर्णित राज्य रच गए हैं, जहां न जाने कितना विलास, कितना वैभव, हास्य-रुदन नृत्य-संगीत एक दिन राजमहलों के आसमान और यहां की हवाओं में मुखरित था। उसी अतीत की साक्षी बनकर उसके द्वारा भोगी गईं अमूल्य वस्तुएं आज संग्रहीत होकर इन प्रासादों में पड़ी हैं, जिनके प्रयोजनार्थ इन वस्तुओं का निर्माण हुआ, आज वे निरस्तित्व हैं, काल का यही धर्म-चक्र है। गत दो सदियों से इस निषिद्ध नगरी के प्रासाद और भवनादि परित्यक्त एवं उपेक्षित अवस्था में रहने के कारण भवनों की छतों पर घास-फूस और नन्हें-नन्हें जंगली पौधे पनप चुके थे। वर्तमान साम्यवादी सरकार ने नगर की पूरी तरह मरम्मत कराकर, जंगली घास-पत्ते एवं पौधों को साफ करा परम्परागत प्रदर्शनशाला के रूप में प्रतिष्ठित किया है। यहां विविध प्रकार के सुन्दर-सुन्दर प्राचीन चीनी चित्रों एवं अन्यान्य शिल्प वस्तुओं का संग्रह किया गया है।

अगस्त महीने की २९ तारीख को, सुबह हमारे होटल में सांस्कृतिक विषयक कार्यालय के उपनिदेशक मि० उयाङ्-चेन-हुया, चीनी शिल्पकला संघ के साधारण सचिव मि० हुया-चीयेन-यो, सांस्कृतिक विषयक कार्यालय के ही साधारण पदाधिकारी मि० उयाङ् रनङ्, सांस्कृतिक प्रदर्शनशाला विभाग के अध्यक्ष मि० उयाङ्-चेन-टो, राजप्रासाद प्रदर्शनशाला के पदाधिकारी मि० उयाङ् प्रभृति सज्जन हमसे मिलने आये। उन्होंने वार्ता द्वारा पीकिङ् नगर और

उसके इर्द-गिर्द अवस्थित दर्शनीय स्थलों की एक सर्वसम्मत सूची तैयार की। तीस अगस्त से पहली सितंबर तक प्रतिदिन सुबह साढ़े आठ बजे, राजप्रासाद और निषिद्ध नगरों की परंपरागत प्रदर्शनशालाएं देखना तय हुआ। दो सितंबर को 'उत्तरी-सि' उपवन, व्हाइट पैगोडा, ऐतिहासिक प्रदर्शनालय और तीन तारीख को ऐतिहासिक प्रदर्शनशाला एवं प्राकृतिक विज्ञान-भवन, चार सितंबर को सारे दिन भर 'चीन की विख्यात दीवार' देखने का कार्यक्रम निश्चित किया गया। ५ तारीख को अपनी-अपनी ज़रूरतों के मुताबिक चीज़ों की खरीद और ६ तारीख को चीनी सम्राटों के ग्रीष्म बिताने की जगह 'वसंत प्रासाद' (समर पैलेस) देखने जाने का कार्यक्रम बना। पीकिङ् शहर में कुछ दिन बिताने के बाद हमारी इच्छा सीधे 'तुङ् हुवाङ् ते' की ओर जाने की थी, लेकिन चीनी सज्जनों की बातचीत में चीनी सरकार की सदिच्छाओं का आभास भी था, जिससे बोध हुआ कि पहली अक्तूबर को वर्तमान चीनी जनता की गणतंत्रात्मक सरकार की स्थापना-तिथि को जो राष्ट्रीय उत्सव आयोजित होनेवाला है, हमें उसमें उपस्थित रहना होगा। पूरा सितंबर महीना पीकिङ् में ही बिताने की व्यवस्था हुई। उनतीस अगस्त को, पीकिङ् होटल में रात्रि भोजन के समय हमारे साथ चीनी सरकार के अनेक उच्चाधिकारियों ने साथ दिया। बातचीत के सिलसिले में जब हमने उन्हें बताया कि हम 'तुङ् हुवाङ् ते' जा रहे हैं तो एक सज्जन ने चीन की एक प्रचलित लोकोक्ति सुनाई "जब तुङ् हुवाङ् ते में रहो तो शरीर पर रात्रि में गरम ऊनी कंबल और दिन में रेशम का झीना कुरता धारण करो। रात में अपने को गर्म रखने के लिए 'स्टोव' की आग के पास बैठो और दिन में ठंडे तरबूज खाओ।" इस प्रचलित लोकोक्ति से यह बात समझ में आ गई कि रेगिस्तान में अवस्थित होने के कारण 'तुङ् हुवाङ्' में रात और दिन के तापक्रम में बहुत ही अधिक अंतर है। यह भी ज्ञात हुआ कि 'तुङ् हुवाङ्' के जल में बहुत अधिक परिमाण में लवण जातीय पदार्थ हैं, अतः इस जल के पीने से पेचिश से पीड़ित होना पड़ता है। जो परिदर्शनार्थी यहाँ जाते हैं, वे पेय जल की व्यवस्था के लिए तेरह चौदह किलोमीटर दूर 'तुङ् हुवाङ्' नामक एक छोटी सी बस्ती से जल पहुँचाने की पूर्वसूचना दे देते हैं। भारतीय राजदूत श्री राघवन हमारे पूर्व इस स्थान को देख चुके थे, उन्होंने भी इस स्थल के जल के संबंध में ठीक ऐसी ही धारणा प्रकट की।

बाद में, मैं कुछ दिनों तक प्रासाद के चित्रागार में चित्रादि देखने गया था। कला-चातुर्य या संरचना अथवा भाव-विन्यास जिस किसी दृष्टि से चित्रों को लक्ष्य किया जाय, चीनी चित्रों की सार्थक सर्जना का निदर्शन अति सहजता से अनुमित किया जा सकता है। इस अपरूप रस-सर्जना को कई बार मुग्ध मन देखने के अनंतर भी मैं तृप्त न हो सका। ऐसा लगा था

कि कुछ दिन और ठहर कर इन्हें देख पाता तो और भी आनंदित हो पाता। इस संग्रहालय में ताङ् एवं सुङ् युगीन वस्तुओं की अपेक्षा मिङ् एवं चिङ् युगीन चित्रों की संख्या बहुत अधिक थी। एकदिन मिङ् राजकाल (१४०३ ई० सन्) के सम्राट् इयोङ् की कब्र देखने गया था। रास्ते के दोनों तरफ हाथी, घोड़े और ऊँटों की प्रस्तर मूर्तियां जमीन पर अवस्थित थीं और उसपर दो तीन बच्चे बैठकर हाथी घोड़ों की सवारी का आनंद ले रहे थे। अपनी मृत्यु के पूर्व ही सम्राट् ने अपनी विशाल और अतीव सुन्दर कब्र का निर्माण कराया था। इसमें वियतनाम देश से जुटाये गये लंबे-लंबे और बड़े-बड़े काठ के स्तंभ व्यवहृत हुए और बहुत से मजदूरों ने बहुत परिश्रम कर दस वर्षों में इस कब्र को तैयार किया। इसी सम्राट् ने पहले-पहल पीकिङ् नगर की स्थापना की। इसके पश्चात् शहर से कुछ दूर—इतिहासप्रसिद्ध पृथ्वी का सातवाँ आश्चर्य पुकारी जानेवाली चीन की विशाल दीवार देखने के लिए हम सदल-बल गाड़ी पर रवाना हुए। रास्ते के दोनों ओर फ़सलों के खेत थे, गांवों को पार करने पर धीरे-धीरे पहाड़ों के भीतर से निकलकर विशाल चीनी दीवार के साम्राज्य में आ पहुँचे। दोपहर का भोजन गाड़ी में ही ले आया गया था, विश्रामागार में बैठकर तुरत भोजन करने के उपरान्त हम सबों ने थोड़ा विश्राम किया। इस विशाल दीवार के शरीर पर जो सीढ़ियां बनी थीं, उसपर चढ़कर तीस-चालीस फीट ऊँची छत पर हम चढ़े। ऊपर से दीवारों को देखने पर अत्यन्त अवाक् रह जाना पड़ा। पूरी की पूरी दीवार बड़े-बड़े पत्थरों के टुकड़ों से निर्मित है, जबकि इसकी चतुर्दिक सीमाओं के भीतर कहीं भी इस तरह के पत्थर नहीं दिखे। जितनी दूर दृष्टि जाती थी, पहाड़ की श्रेणियों-सी सर्पिली गति और भंगिमा लिये यह विशाल दीवार टेढ़ी-मेढ़ी चली गई है। छत के सिरे पर दोनों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें थी जिनमें छोटे-छोटे गड्ढे थे, जिनकी खंदकों के बीच से शत्रुओं पर बन्दूक की गोलियां चलायीं जा सकती थीं। कहीं पर सैनिकों के एकत्रित होकर रहने की व्यवस्था थी। दीवार की चौड़ाई इतनी अधिक है कि आसपास एक जोड़ा घोड़ा-गाड़ी बड़ो सहजता से चलाया जा सकता है। प्राचीन काल में उत्तर से आनेवाले मंगोलों एवं अन्य विदेशी शत्रुओं के अत्याचार से अपनी सुरक्षा करने के उद्देश्य से इस दीवार का निर्माण हुआ था। ईसा के २१८ वर्ष पूर्व सम्राट् चीन-सीर द्वारा यह निर्मित है। इसकी लंबाई एक हजार पाँच सौ मील है।

६ सितंबर की सुबह, सवा नौ बजे, चीन सरकार के सांस्कृतिक विभाग के उपप्रधान मंत्री मि० चेङ्-चेन-दे के कार्यालय भवन में उनसे मुलाकात करने गया था। डा० चक्रवर्ती ने मुझे बताया कि यही वे सज्जन हैं, जिनके उद्योग से हमारा चीन देश भ्रमण करना संभव हुआ है। मि० चेङ्-चेन-दे को देखकर मालूम पड़ा कि वे स्वल्पभाषी एवं गंभीर प्रकृति के

सज्जन हैं। बलिष्ठ और सुगठित शरीर, चेहरे पर बुद्धिमत्ता की छाप। उन्होंने हमें सादर सम्मान दिया। हमारे रहने और भोजन के संबंध में किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं—इसकी जानकारी प्राप्त की तथा अबतक कौन-कौन से दर्शनीय स्थान देखे हैं, यह भी जानना चाहा। 'चुङ् हूवाङ्' संस्था के प्रधान निर्देशक मि० जाङ् जब तक पीकिङ् नहीं पहुँच जाते तब तक हमारा यहीं अपेक्षा करना ज्यादा अच्छा होगा—ऐसी ही मंशा उन्होंने प्रकट की। उनसे ही पता चला कि मि० जाङ् दस या बारह सितंबर के भीतर पोकिङ् आ पहुँचेंगे। मि० चेङ्-चेन-दे नामक एक व्यक्ति चीन में अपनी विद्वता के लिए विश्रुत हैं। उनके साथ, बाद में जब एक बार और हमारी मुलाकात हुई थी तो वार्ता-क्रम में उन्होंने कहा कि शिल्प कला विषय पर अंग्रेजी में जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं उसमें से उन्होंने किसी को पढ़े बिना नहीं छोड़ा। उन्हें मैंने इसके पहले शांतिनिकेतन में भी एक बार देखा था। चीनी प्रतिनिधि मंडल के द्वितीय बार भारत भ्रमण के अवसर पर मि० चेङ्-चेन-दे ने ही इसका नेतृत्व किया था। शांतिनिकेतन परिदर्शन करने के अवसर पर विश्वभारती के तत्कालीन उपाचार्य स्व० प्रबोध चन्द्र बागची ने उन्हें आम्रकुंज में मानपत्र अर्पित किया था।

मि० चेङ् चेन-दे से विदा लेने पर चीन के विख्यात स्वर्गीय देवमंदिर (टेम्पुल ऑव हैवुन) देखने के उद्देश्य से चला। मंदिर से बहुत कुछ दूर पर अवस्थित दो द्वारों को पार करने पर विस्तृत चौकोर प्रांगण के सामने हमारी कार रुकी। सारा प्रांगण पत्थरों से ऊपर तक घिरा था और देखने में भी सुन्दर था। विपरीत कोणों पर दोनों तोरण द्वारों के भीतर से स्वर्गीय देव मंदिर देखने पर प्रतीत हुआ कि द्वार जैसे किसी तस्वीर की फ्रेम हो और उसके अंदर का मंदिर मानो उसमें चित्रित हो। इसी प्रसंग में याद आ गया कि आगरे में, दरवाजों के बीच से जिस समय ताजमहल देखा था, उस क्षण ठीक ऐसी ही धारणा मन में उठी थी। देहरियाँ पार करते-करते दो प्रांगणों के बाद मंदिर के दरवाजे तक पहुँचना होता है। स्थापत्य निर्माण एवं लकड़ी पर शिल्प कार्य की दृष्टि से यह अपूर्व है। इसकी छत की छतरियों का रंग नीला है। इस मंदिर का निर्माण १४२ ई० सन् में हुआ था। प्राचीन समय में सम्राट गण वर्ष के किसी विशेष दिन इस मंदिर में अर्घ्यादि अर्पण करते और पूजा-प्रार्थनाएं आदि निवेदित करते—जिससे देश भर में अच्छी फसल उत्पन्न हो। १८८९ ई० में वज्राघात से आग लग जाने के कारण मंदिर जलकर खाक हो गया था। पहले की तरह ही, नक्शे को आधार बनाकर इस मंदिर का पुनर्निर्माण या जीर्णोद्धार किया गया है।

७ सितंबर की सुबह आधुनिक काल के सुविख्यात् चीनी चित्रकार स्वर्गीय जूँपियर के चित्र आदि देखने के लिए, हम श्रीमती जूँपियर के निवास स्थान पर पहुंचे। श्रीमती जूँपियर

ने बाहर हमारा स्वागत किया। पहले शिल्पी के स्टूडिओ में प्रवेश कर विलासी शैली में अंकित बहुत से तैल चित्रों को देखा। उन्होंने किसी समय फ्रांस की राजधानी पेरिस में तीन वर्ष और जर्मनी में दो वर्ष चित्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त की थी। स्टूडिओ के पीछे एक कमरे में शिल्पी द्वारा निर्मित दो बहुत बड़े-बड़े तैलचित्र दीवारों पर टंगे थे। घर के भीतरी भागों में चीनी पद्धति में अंकित घोड़े, भैंस, हंस और फूलों के चित्रादि देखे। एक दूसरे कमरे में शिल्पी का विश्राम और शयन-कक्ष देखा, सामान वगैरह पहले की तरह ही रखे हुए थे। एक-एक कमरे में, शिल्पी द्वारा बहुत-सी मानव आकृतियों के रेखा-चित्र सुन्दरता पूर्वक सजे थे। इन रेखाचित्रों में रवीन्द्रनाथ, शिल्पाचार्य नन्दलाल बोस, प्राक्तन ग्रंथागारिक प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, रसोई घर के कई एक रसोइये और शांतिनिकेतन की ही दो दृश्यावलियां भी हैं। शिल्पी ने किसी समय कुछ दिनों के लिए शांतिनिकेतन आकर प्रवास किया था। बातचीत के प्रसंग-क्रम में श्रीमती जूँ पियर ने भारत देखने की प्रबल इच्छा व्यक्त की थी—विशेषकर शांतिनिकेतन को, क्योंकि इसी विश्वभारती विश्वविद्यालय में उनके पतिदेव ने कुछ समय ठहरकर चित्रादि अंकित किए थे। आज सचमुच ही, शिल्पी के घर उनकी ही चित्र रचनाओं के साथ, शिल्पी के निवासस्थान की स्मृति से जुड़ा, उस स्थान को देख और उनकी जीवन कहानी को जानकर बहुत आनंदित हुआ। चीन देश में शिल्पी जूँ पियर के नाम का उच्चारण होगा—सूँ-पाई-हुङ्‌।

१० सितंबर की सुबह, मैं, डाक्टर चक्रवर्ती और श्रीमती चक्रवर्ती शोध-विभागों के निदेशक के कार्यालय में गए थे। हमारा ध्येय था चीन के अतीव प्रतिभामंडित एवं प्रसिद्ध व्यक्ति मि० को-मो-जोर से मिलना। पर यह दुःख का ही विषय था कि वे अपने कार्यालय में नहीं थे, अतः हम मिल न सके। वे एक साथ कवि, साहित्यिक, नाट्यकार, राजनीति, पुरातत्त्ववेत्ता एवं कुछ समय के लिए मंत्रि-परिषद् में उच्चपदाधिकारी भी थे। उनकी अनुपस्थिति में भी उनके कार्यालय के एक उच्चपदाधिकारी मि० सिया-नाई ने पुरातत्त्व की दिशा में किस प्रकार के काम-काज हो रहे हैं—यह बताया। साधारणतः यह हमारी धारणा है कि एकमात्र बौद्धधर्म चीन में ही प्रचारित हुआ था और चीन देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश से पहली बार इसका प्रवेश हुआ था। किन्तु हिन्दू-धर्म और संस्कृति जब जल मार्ग से कम्बोडिया, इन्डोनेशिया होती हुई चीन के पूर्वीय उपनगरों में प्रचारित हुई थी, तब वह स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पायी। फूकिन प्रदेश के जायटुन नामक स्थान में मिट्टी खोदकर हिन्दू सभ्यता एवं हिन्दू स्थापत्य के अनेक प्रमाण चतुर्दिक प्राप्त हुए हैं।

इसी संदर्भ में खुदाई से प्राप्त रस्सी द्वारा ओखल में बंधे और दो अर्जुन वृक्ष की ओट में बालक कृष्ण की उत्कीर्णित मूर्त्ति हमने देखी।

११ सितंबर को भगवान बुद्ध की २५०० वीं वर्ष पूर्त्ति के उपलक्ष में पीकिङ् शहर में अजंता गुफा के चित्रों की एक सुन्दर प्रदर्शनी आयोजित हुई थी। इसी क्रम में अन्तर्जातिक समिति भवन में सुबह एक विशाल सभा का आयोजन हुआ, जिसमें सांस्कृतिक परिषद् के सदस्य एवं बहुत से गण्यमान्य व्यक्तियों ने एक सुसज्जित मंच पर बैठ भाषणादि दिया। इनके साथ डा० साहब, श्रीमती चक्रवर्ती और मैंने भी आसन ग्रहण किया। मंचासीन व्यक्तियों में दो-तीन चीनी सज्जनों ने अपने भाषण-प्रसग में भारत के साथ चीन के सांस्कृतिक संबंधों एव अजंता गुफा के चित्रों पर प्रकाश डाला। इसके अनतर डा० चक्रवर्ती ने अजंता गुफा के चित्रों पर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण निबध उनके सम्मुख पढ़ा। सम्पूर्ण भाषण, पुस्तिका रूप में चीनी और अंग्रेजी भाषा में लिखा था। दर्शक और श्रोताओं के बैठने की दीर्घा में बहुत से चीनी, भारतीय एवं रूसियों ने आसन ग्रहण किया था। सभा की समाप्ति पर चीनी शिल्पी सघ के नये प्रदर्शन भवन के द्वार पर हम सब इकट्ठे हुए। भारतीय राजदूत श्री राघवन ने ठीक साढ़े दस बजे प्रदर्शनी का द्वार उद्‌घाटित किया। बहुत से चित्रकार, भवन-निर्माण शिल्पी, समालोचक एवं गण्यमान्य व्यक्ति इस प्रदर्शनी भवन में उपस्थित थे। अजता के चित्रों की बहुत बड़ी-बड़ी अनुकृति एवं रगीन छायाचित्र आदि इस प्रदर्शनी में बड़ी सुरुचिपूर्णता और व्यवस्थित ढग से लगे थे। इसके बाद अपने होटल में कुछ समय विश्रामोपरान्त दोपहर के बारह बजे, चीन देश के प्रख्यात् ग्रीष्मकालीन राजप्रासाद (समर पैलेस) देखने के लिए रवाना हुए। पीकिङ् शहर से तेरह मील दूर एक पहाड़ी पर यह प्रासाद अवस्थित है। इसके पास ही एक बड़ा सोता भी है। सोते के उत्स स्थल से उपवन के भीतर होती हुई टेढ़ी-मेढ़ी और क्रमशः संकीर्ण पगडंडी ऊपर जाकर राजप्रासाद से जुड़ती है। इस पथ के दोनों बगल, काठ के स्तभ लगा दिए गए हैं, जिन पर छतरियां तनी हैं और दोनों बगल नक्काशीदार लकड़ियों के जँगलों से स्तंभों को परस्पर जोड़ दिया गया है। इस प्रासाद का स्थापत्य, काठ का दरवाजा, खिड़कियों पर अतिसूक्ष्म नक्काशी का काम, विचित्र उपवन निर्माण, सौन्दर्यबोध की परिष्कृत साक्षी प्रस्तुत कर रहा था। राजप्रासाद का एक मंडपाकार हिस्सा, जहाँ चीन की विधवा साम्राज्ञियों का मंडल अपनी दासियों के संग नृत्य-अभिनयादि का दर्शन करता था—उस स्थान की व्यवस्था सर्वथोपयुक्त और सुन्दर थी। दूसरी ओर रंगमंच और उसके सामने दर्शकों के बैठने का स्थान था। बिना दीवार से घिरे दो सपाट प्रांगण, काठ पर सुन्दर चीनी लाख (लाह)

के काम किए हुए जँगलों से नीचे की तरफ घेर दिए गए थे। दरवाजे के काठ पर सुन्दर चीनी नक्शे निपुणतापूर्वक खुदे थे। बहुधा चमगादड़ की आकृति वाले नक्शे दीखते थे। इस विषय में पूछने पर चीनियों ने बताया कि चमगादड़ उनके यहाँ शुभसूचक और मंगल का प्रतीक है। काठ के जँगलों के बाहर उद्यान के बहुत से फूलों के पौधों पर विविध रंगों के फूल खिले थे।

विशाल प्राँगण के चारों तरफ घूमकर प्रासाद में जो कुछ भी दर्शनीय था, उसे देखकर हम सभी थक गए और दोपहर के भोजन के लिए एक घर में आकर धीरे-धीरे एकत्रित हुए। बहुत प्रकार के सुस्वादु चीनी भोजनों को डँटकर खाया गया। भोजन के समय चीन देश के एक विशेष प्रकार का मद्य प्रस्तुत किया गया, हमारे साथियों के बीच जिन लोगों ने इस मद्य का पान किया, उन्होंने यह अनुभव किया कि यह मद्य बहुत ही नशीला (कड़ा) था, बहुत कुछ रूसी मद्य 'वूदका' की जाति का। आहार के कुछ क्षण पश्चात्, एक नाव लेकर हमलोग उसी सोते में घूमने निकले थे। इसके एक स्थान पर आकर हमने पत्थरों से निर्मित एक सुन्दर सेतु देखा। कला-विषयक बहुत सी पुस्तकों में इस सेतु की तस्वीर हमने देखी है। सेतु के बीच का हिस्सा, इसके दोनों ओर-छोर से काफी उभरा हुआ था। जल में इसकी प्रतिच्छाया बहुत ही मनोहर दीखती थी। किनारे ही जल में, ढेरों श्वेत कमल खिले थे। सेतु, उसकी परछाईं और श्वेत-कमल—सब मिला जुलाकर मानो एक चीनी चित्र का आभास दे रहे थे। नाव पर से सोते के पानी में वसंत प्रासाद (समर-पैलेस) का लंबा, ऊँचा, और शिखर शोभित पैगोडा तथा पेड़-पौधों की परछाइयाँ देखने में बहुत सुन्दर लग रही थीं। यह सब देख हमलोग इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे तो पास में बैठे चीनी बन्धुगण आपस में बातें कर रहे थे कि न जाने कितने सौ गरीबों के कष्ट और परिश्रम द्वारा यह समस्त प्रासाद निर्मित हुआ है और कितनों ने इसके लिए अपने प्राण भी गवाएं हैं। इनके हाव-भाव को देखकर ऐसा जान पड़ा कि इस वसंत प्रासाद, उसके अनुपम उद्यान और सुंदर सोते की सौंदर्य-सृष्टि एवं इसके निर्माण से हमारे चीनी बंधु बहुत अधिक संतुष्ट नहीं। सुना कि चीन के चिङ् राज-काल में तत्कालीन विधवा साम्राज्ञियों द्वारा यह राज-प्रासाद निर्मित हुआ था। यह राजत्व काल संभवतः बड़ा ही पराक्रमी था। वर्तमान महल के कुछ दूर पर, पूर्व में प्राचीन वसंत प्रासाद अवस्थित था। फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के साथ युद्ध में इन विदेशी सैनिकों ने बाहुबल से समस्त मूल्यवान सामग्रियों को नष्टकर आग से जला ध्वस्त कर रख दिया। बहुतों के अनुसार वतमान प्रासाद के निर्माण में यूरोपीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिस सोते के जल में हम नाव पर भ्रमण कर रहे थे, वह प्राकृतिक सोता नहीं था, इसका निर्माण खुदाई द्वारा किया

गया और इससे निकाली गई मिट्टी के द्वारा छोटी सी पहाड़ी बनी, जिस पर 'वसंत प्रासाद' अवस्थित है। कितने हजार श्रमिकों ने कितने साल परिश्रम कर इस सोते और इस कृत्रिम पहाड़ी को बनाया होगा—यह सोचकर अवाक् रह जाना पड़ा। उस दिन होटल में हमें लौटकर आते-आते संध्या हो गई।

(क्रमश)

अनु० रणजीत कुमार साहा



ग्रन्थ समीक्षा

भवभूति और उनकी नाट्यकला—ले० डा० अयोध्या प्रसाद सिंह, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी और पटना, १९६९ प्र० सं०, ३५९ पृ०, मूल्य २० रु० ।

प्रस्तुत कृति पटना विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत 'भवभूति की नाट्यकला : प्रयोग और उपलब्धियाँ' शीर्षक शोधप्रबंध का किंचित् परिवर्तित और परिवर्द्धित रूपान्तर है ।

कृति छः प्रकरणों में विभाजित है , प्रत्येक प्रकरण कुछ अध्यायों में विभक्त है । यथा, प्रथम और द्वितीय प्रकरण में से प्रत्येक में दो अध्याय हैं, तीसरे और चौथे प्रकरण में से प्रत्येक में चार अध्याय हैं और पांचवें तथा छठे प्रकरणों में प्रत्येक में दो अध्याय हैं । इनके अतिरिक्त अंतिम एक अध्याय में उपसंहार है ।

इन अध्यायों में भवभूति के समय तथा जीवनी, उनके नाटकों का रचनाकाल, संस्कृत नाटकों के आधारभूत सिद्धान्त—यथा –रस, वस्तु और नायक तथा उनका नाटकों में निर्वाह, भवभूति के पूर्ववर्ती काव्यकार, महावीरचरित और उसके पाठ से संबंधित समस्याएँ, नाटकों की वस्तु और उसका निर्वाह, उनके नाटकों के मूलस्रोत तथा कथावस्तु में उनसे अंतर, राम का चरित्र-चित्रण, प्रकृति के कोमल तथा भयंकर पक्षों का चित्रण, रस निरूपण, भाषा और शैली का अध्ययन तथा परवर्ती कवियों पर प्रभाव का अध्ययन किया गया है ।

लेखक ने इन विषयों का विवेचन बड़ी सावधानी से किया है, उसका विवेचन तथ्यपूर्ण है । यह देखकर संतोष होता है कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन नाट्यशास्त्र और काव्यसमीक्षा की कृतियों में प्राप्त सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर लेखक ने भारतीय परंपरागत समीक्षा सिद्धान्तों की दृष्टि से भवभूति की कला का मूल्यांकन किया है । नाट्यकार के पक्ष का उसने समर्थन करने का प्रयास किया है और लेखक ने अपने दृष्टिकोण को जिस प्रकार व्यक्त किया है, वह तर्कसंगत है । तुलनात्मक समीक्षा से संबंधित उसके विचारों से कई स्थलों पर सहमत हम भले न हो सकें किन्तु उसके दृष्टिकोण में नाट्यकार के प्रति प्रशंसा के भाव मिलते हैं और वह निर्णयों में प्राय: पक्षपात रहित है ।

लेखक ने कृति के अंत में जो पुस्तक-सूची दी है, उससे भवभूति के नाटकों के विभिन्न संस्करणों का पता चलता है । इस सूची में आनंदराम बड़ुआ द्वारा संपादित जानकीराम भाष्य के साथ महावीरचरित के संस्करण का उल्लेख नहीं किया गया जो आसाम के पब्लीकेशन बोर्ड द्वारा पुनर्प्रकाशित हुआ है ।

महावीरचरित और उत्तररामचरित की रचना द्वारा भवभूति ने परवर्ती रामकथा विषयक काव्य रचयिताओं के यश को अच्छादित कर दिया । आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए रामकथा से संबंधित नाटकों का आदर्श भवभूति ने अपनी कृतियों द्वारा जैसे स्थिर कर दिया ।

भवभूति विद्वान कवि थे और इसलिए उन्होंने आलंकारिकों के प्रसिद्ध गौड़-मार्ग का अनुसरण किया है । गौडी रीति, संतुलित वैदर्भी रीति के विपरीत, भावातिरेक के कारण

बोझिल हो गई है। दण्डी ने यह स्पष्ट रूप से दिखाया है कि वैदर्भी रीति की तुलना में गौडी रीति हीन है, क्योंकि गौडी रीति में अति की ओर झुकाव दिखता है। गौडी रीति में केवल चार गुणों का समावेश माना गया है, जब कि वैदर्भी में दसों गुण रहते हैं। यह द्रष्टव्य है कि वामन ने गौडी रीति के उदाहरण के रूप में महावीरचरित (१।५४) से उद्धरण दिया है और वैदर्भी रीति का उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल से दिया है। प्राचीन और मध्ययुगीन आलंकारिकों ने गौडी रीति की अपेक्षा वैदर्भी को महत्त्व दिया है। इसका प्रमाण हम कालिदास की व्यंजनापूर्ण कला में देखते हैं, भवभूति के विद्वतापूर्ण शब्दाडंबर की तुलना में काव्यरसिक कालिदास की कला की अधिक प्रशंसा करते हैं। किन्तु यह कहना कि भवभूति के नाटक गौडी रीति की विशेषताओं का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, उचित नहीं होगा। उसका अर्थ होगा—भारतीय और पाश्चात्य तुलनात्मक समीक्षा के द्वार बंद कर देना।

आलंकारिक दृष्टिकोण से भवभूति के तीन नाटकों का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है, भवभूति ने वाल्मीकि रामायण से अपने करुण रस चित्रण के लिए किस मात्रा में सहारा लिया है, उसका भी अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। उसके अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य, गुण, दोष, अलंकार, आलंकारिकों द्वारा उनके पद्यों का उद्धरण के रूप में प्रयोग, चित्रकाव्य की विशेषताएँ, अप्रचलित शब्दों के प्रयोग आदि विषयों का अध्ययन भवभूति की प्रतिभा को समझने के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत कृति में भवभूति को कला के इन सभी पक्षों का विवेचन नहीं हुआ है।

लेखक की शैली आकर्षक है। छपाई में सावधानी बरती गई है, तथापि कुछ भूलें रह गई हैं यथा, सातकर्णि के लिए सतकारी (पृ० ६), सद् उक्ति के लिए सद् ऊक्ति (पृ० २०) दैवत—कर्मणि प्राणिणाम् के लिए दैवत्—कर्मणि · प्राणिणाम् (पृ० २०), आपरितोषाद्—आ परितोषाद् के लिए (पृ० ५०) इत्यादि। आशा है, अगले संस्करण में इन्हें सुधार किया जावेगा।

—विश्वनाथ भट्टाचार्य

रक्त के अक्षर (खंड काव्य)—शिवशंकर त्रिपाठी, प्रथम प्रकाश—संवत् २०२६, प्रकाशक—लोकायत, दारागंज, इलाहाबाद—६, मूल्य—सजिल्द ४'०० (अजिल्द २'५०), पृष्ठ संख्या—११२।

समीक्ष्य कृति वीर शिवाजी के शौर्यपूर्ण कार्यों पर आधारित वीर रसात्मक खंडकाव्य है। राजपूतों और मराठों के शौर्य पर भारत के इतिहास को गर्व है। शिवाजी की अन्यतम वीरता का यशोगान कर चारण कवि भूषण ने शिवाजी को न केवल इतिहास में, अपितु साहित्य (शिवा बावनी तथा शिवराज भूषण) में भी स्थापित कर दिया है। वीर छत्रसाल और गुरु गोविन्द सिंह पर तो इनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था।

कवि श्री त्रिपाठी ने अपने वक्तव्य में स्वीकारा है कि इस खंडकाव्य को लिखे जाने की प्रेरणा उन्होंने महाराष्ट्र के यशस्वी कवि दिनकर पेण्ढरकर की एक कृति से प्राप्त की थी। वह थी 'देहूँचा पुल' नाम्नी लंबी कविता। स्पष्ट है, कवि को इसी कविता से सामग्री चयन में भी काफी सहायता मिली होगी। लेकिन त्रिपाठी जी ने अपने इस खंड काव्य के शीर्षकानुरूप शिवाजी को युद्ध में ही उलझाये रखा है। यह सत्य है कि यवनों के सेनापतियों को बार-बार युद्ध में पराजित कर शिवाजी ने एक योद्धा से अधिक अपने युद्ध-कौशल का परिचय दिया था। मुगल सम्राट् औरंगजेब ने इन्हें 'पहाड़ी चूहा' और 'पहाड़ी डाकू' भी कहा था। जो भी हो, मुगलों की शक्ति को ह्रास की स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय अकेले इनको ही दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। हिन्दू राज्य की स्थापना, धर्म की प्राण प्रतिष्ठा और आदर्श शासन प्रणाली के प्रणेता एवं सृजेता, जन मन नायक शिवाजी के सम्पूर्ण जीवन और काय-कलापों का समाकलन कर एक श्रेष्ठ महाकाव्य की सृष्टि की जा सकती है—पर हिन्दी में इसका आज तक अभाव है—यह कम शर्म की बात नहीं है।

कवि त्रिपाठी का प्रयास कुछ उसी प्रकार का है—जो दूसरे कवियों का रहा है और जिन्होंने शिवाजी पर छुट-पुट कुछ कविताएं लिख दी हैं—या एकाध नाटककार द्वारा कहीं बीस पचीस पेजी नाटक लिखे गए हैं। फिर भी कवि ने इसमें शिवाजी के स्वराज्य संस्थापन का उपक्रम, गुरु रामदास का स्नेहपूरित आशीर्वाद, एसाजी, तानाजी, बाजी, दादाजी आदि वीरों की सहायता प्राप्त कर कल्याण, तोरणा, सिंहगढ़, जुन्नर और पन्हाला आदि महान दुर्गों की विजय को सूत्रवत् पिरोना चाहा है। मूल स्वर राष्ट्रीय है और स्थायी रस 'वीर' ही है। प्रस्तुत खंडकाव्य आठ सर्गों में विभक्त है।

प्रथम सर्ग में परिचय प्रस्तुत करते हुए इष्ट एवं ईश वन्दना की गई है। द्वितीय सर्ग में अतीत विरह ('नास्टाल्जिया फार द पास्ट') की रस्म पूरी की गई है। तृतीय सर्ग में विषय प्रवेश और चतुर्थ सर्ग में शिवाजी एवं रामदास की वार्ता है—जिसका बहुलांश रामदास जी के आशीर्वचन एवं प्रेरक उपदेशों से भरा है। पूरे खंडकाव्य के पूर्वार्द्ध तक कवि ने काव्य का कलेवर बढ़ाने की भरपूर कोशिश की है। पंचम सर्ग से वे अपनी विषय-वस्तु के निर्वाह के लिए उद्योगी दीखते हैं। छठे सर्ग में युद्ध और कुर्बानी, खून-खराबी और रक्तपात के दर्शन होते हैं। सातवें सर्ग में कथा का प्रवाह एकदम रुक-सा गया है, सिर्फ अफजल खां की हरकतों से इसमें शिवाजी के कुछ-न-कुछ करने का मौका मिल गया है। आठवें सर्ग में अफजल खां के पुत्र फाजल खां को यवनों के युद्ध संचालक के रूप में प्रदर्शित किया गया है, पर उसका परिणाम क्या हुआ—यह पता नहीं चलता। उसके उपरान्त छः मुक्तकों में उपसंहार लिखकर इस खंडकाव्य समाप्ति की घोषणा हो जाती है।

युद्धवर्णन में कवि को थोड़ी बहुत सफलता अवश्य मिली है—पर वह शब्दगत ही है—भावगत नहीं। पाठक की बुद्धि पर अविश्वास करते हुए एक ही भाव को बार-बार आरोपित किया गया है। वर्णन एकात्मक है और स्वतंत्र तथा निश्चयात्मक विशेषताओं के प्रतिकूल भी। खंडकाव्योचित अन्विति और कसाव का आद्यन्त अभाव है। ऐतिहासिक विषय वैसे भी

काफ़ी मोटे होते हैं—पर कवि उनसे लाभान्वित नहीं हो पाया। कहीं कहीं संवाद नाटकीय हैं और पत्रोचित भी, पर क्रियाशीलता के अभाव में कोई भी चरित्र उभर नहीं पाया है; यहां तक कि शिवाजी को ढूंढ़ निकालने में भी पाठकों को भटकना पड़ेगा। छंदों में विविधता होने की शर्त का निर्वाह भी खंडकाव्य के अनुकूल ही है। यदि कुछेक क्लिष्ट शब्दों को निकाल दिया जाये तो यह रचना सर्वथा किशोरोपयोगी हो जायगी।

प्रूफ संबंधी तथा छापे की भूलें काफी की गई हैं। दूसरे संस्करण में इन्हें दूर करने की काफी गुंजाइश है। प्रस्तुत कृति का तो नहीं, पर इस प्रकार के प्रयास का स्वागत किया जाना चाहिए।

—रणजीत कुमार साहा

संक्षिप्त गुरु प्रताप सूरज—सम्पादक—डा० जयभगवान गोयल, रीडर, पंजाब विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर प्रादेशिक केंद्र, रोहतक . प्रकाशक—पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्डीगढ़। प्रथम संस्करण—१९६८ ई०, पृ० सं० २७२, मूल्य २५ रुपये।

प्रस्तुत कृति भाई संतोखसिंह के ५१,८२९ छंदों में समाप्त विशालकाय महाकाव्य का संक्षिप्त रूप है। भाई संतोखसिंह का जीवनकाल संवत् १८८४ (?) से १९०० तक रहा। उनका जन्म अमृतसर जिले के नूरदी स्थान से हुआ ऐसा कहा जाता है। उनके पिता धार्मिक प्रवृत्ति के थे, उन्होंने अपने पुत्र को अध्ययनार्थ उस समय के प्रसिद्ध मनीषी भाई संतसिंह के पास भेज दिया। संतसिंह विद्वान तथा भगवद्भक्त थे। ऐसे योग्य गुरु के आश्रय में रहकर संतोखसिंह की प्रतिभा को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला। काव्य, काव्यशास्त्र, वेदान्त, गुरुवाणी (सिक्ख गुरुओं की वाणी) आदि अनेक विषयों की उन्हें अध्ययन करने की सुविधा प्राप्त हुई। विद्वत्ता के साथ भक्ति के संस्कार उन्हें अपने गुरु तथा अपने पिता से प्राप्त हुए। उनकी रचनाओं में उनकी विद्वत्ता का परिचय तो मिलता ही है इसके साथ उनके आस्थासंपन्न व्यक्तित्व की भी स्पष्ट झलक मिलती है।

उनकी रचनाओं में गुरु नानक प्रकाश, तथा गुरु प्रताप सूरज प्रबन्ध काव्य हैं, 'नामकोश' अमरकोश का पद्यबद्ध अनुवाद है, 'वाल्मीकि रामायण' भाषा भी वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद है। जपुजी की गरब गंजनी टीका तथा आत्मपुराण टीका उनकी दो टीका कृतियाँ हैं। किन्तु उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'गुरुप्रताप सूरज' है।

भाई संतोखसिंह की रचनाओं की भाषा पंजाबी से प्रभावित ब्रजभाषा है। इनकी रचनाएँ गुरुमुखी में लिपिबद्ध थीं, इसी प्रकार अन्य अनेक कृतियाँ गुरुमुखी लिपि में होने के कारण गुरुमुखी लिपि से अपरिचित जिज्ञासु पाठकों की पहुँच के बाहर थीं, हिन्दी साहित्य के अध्येता भी इनसे अपरिचित रहे, हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में भी उनका परिचय

नहीं दिया जा सका। डा० गोयल तथा कुरुक्षेत्र प्रदेशों के भाषा और साहित्य के विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे इस महत्त्वपूर्ण सामग्री को प्रकाशित करने का क्रमबद्ध प्रयास करें। गुरु प्रताप सूरज जैसी कृतियों का अध्ययन हमारे साहित्य के अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है।

गुरु प्रताप सूरज की वस्तु का सबंध सिक्ख गुरुओं के जीवन चरित से है। यद्यपि गुरुओं का जीवन इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं पर आधारित है तथापि अनेक पौराणिक एवं अनैतिहासिक प्रसगों की अवतारणा की गई है। प्रसंगवश अनेक धर्मों, संप्रदायों की चर्चा हुई है और गुरुओं को ही अवतार रूप में चित्रित करके अनेक अलौकिक प्रसंगों की उद्भावना की है। प्रस्तुत कृति मूल कृति का संक्षिप्त संस्करण है, अत उससे मूल कृति के रचना-विधान का परिचय नहीं मिल सकता, क्योंकि संक्षिप्तकर्ता ने 'वीररस' के प्रसगों को विशेषरूप से संकलित किया है। 'वीरता सम्बन्धी छन्द भी 'गुरु प्रताप सूरज' में लगभग दस हज़ार होंगे, उनमें से छाँट कर ऐसे उदाहरण ही यहाँ रखे गए हैं, जिनसे युद्ध-कथा वर्णन का स्वरूप भी स्पष्ट हो सके और साथ ही 'वीररस' की दृष्टि से भी उसका स्वरूप सामने आ सके।'

शैली की दृष्टि से 'गुरु प्रताप सूरज' में चरित काव्यों की विविध छंद-परपरा शैली का प्रयोग हुआ है। रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त प्राय सभी छंदों का प्रयोग भाईसंतोखसिंह ने किया है। वीररसपूर्ण छंदों को पढ़ते समय रीतिकालीन वीरकाव्यों का स्मरण हो जाता है—सूदन की कृति या पृथ्वीराज रासो के नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित वृहद् रूपान्तर में अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे जो 'गुरु प्रताप सूरज' की निम्नपंक्तियों से साम्य रखते हैं :—

रसावल छंद—धरे जुद्ध चोरं। सुभते शरीरं।

बडो खग्ग मारा। गरे बीच धारा॥
लई ढाल चौरी। हुतो मार गौरी।
लगाई पिछारे। महा शोभ धारे।
शुभै भूर माथा। भयौं बात साथा।
लग्यौ हेम जाही। दिपैं हीर मांही॥ पृ० १६१

रीतिकालीन वीर काव्यों के समान ही भाषा के साथ स्वतंत्रता आलोच्य कृति में बरती गई है।

वीर रस कृति में प्रधान है, किन्तु भक्ति, धर्म, उपदेश, पौराणिक अंशों की भी कमी नहीं नहीं है। भाई संतोख सिंह के गुरु संतसिंह ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का अनुवाद किया था। अत. संतोखसिंह का उससे भली भांति परिचित होना स्वाभाविक था। उनकी कृति के अनेक प्रसंगों पर 'रामचरित मानस' की छाप मिलती है।

यथा—ग्रथ की समाप्ति के प्रसग में जो रूपक बांधा गया है वह 'मानस' के प्रसंग के समान है।

रामकुइर गिरिवर ते निकसी। सिक्खन विखे जगत महिं विगसी।
जोग विराग भगति अरु ग्यान। बसहि चार जलजतु महान।
जप तप संजम दान शनान। धीरज दया छिमा निरमान।
सखि सतोख आदि गुन जेते। लघु जलजंतु बास करि तेते।

रीतिकालीन काव्य -ग्रन्थों में प्राप्त वस्तु परिगणनशैली के भी दर्शन होते हैं—यथा हेमकूट के वर्णन में वृक्षों की नामावली (पृ० २४२)।

कृति की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। एक ओर उसमें अनेक स्थलों पर वीर रस के प्रसंगों में वीरकाव्यों में प्रयुक्त भाषा की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं —जैसे शब्दों में व्यंजनों के द्वित्व रूप, संस्कृताभास इत्यादि दूसरी ओर प्रतीत होता है जैसे भाषा का रूप छद के अनुरूप रखा गया है। रीतिकालीन कवियों का प्रभाव स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है यथा शब्दों की पुनरुक्ति— नीचे के पद्य में 'रहे' की पुनरुक्ति—

चारु तरु फूल रहे छाया अनुकूल रहे, मूल द्रिढ फूल रहे नीके आलबाल रहे।
दीपति कदब रहे वेल के अलब रहे, मिले नित अब रहे, रस में रसाल रहे॥

नीचे की पक्ति को पढ़कर 'पद्माकर' के 'बगर्यौ बसंत है' 'का' स्मरण हो आता है— मानो काम बागवान गुरु-सनमान हेतु दल फल फूल ते बसत बगरायौ है।

अनुप्रास की छटा अनेक पद्यों में बिखरी दिखाई देती है।—

गिरिवर तरे तरे तरोवर तरानर, बाट अरु पीपर बरनवर जाल हैं।
हरड बहेडे खरे आंबरे उचेरे पीन स्ंमल बडेरे पै घनेरे क्रितमाल हैं॥

ऐसे स्थलों पर कवि ने काव्य के केवल बहिरंग पर ही ध्यान दिया है।

'गुरुप्रताप सूरज' में सुदर पद्यों की कमी नहीं है। परिष्कृत काव्य शैली के उसमें अनेक प्रसग मिलते हैं। डा० गोयल से हम आशा करते हैं कि वे गुरुमुखी लिपि में प्राप्त अनेक कृतियों का उद्धार करेंगे। पजाब विश्वविद्यालय ने इस ग्रथमाला का प्रकाशन करके 'सहीकदम' उठाया है। हमें विश्वास है इस दिशा में उसके कदम आगे बढ़ते ही रहेंगे। इसमें हमें संदेह नहीं है कि 'गुरु प्रताद सूरज' जैसी कृतियों से हमारी राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ होगी और हिन्दी साहित्य का इतिहास और समृद्धि प्राप्त करेगा।

मध्यकालीन बोध का स्वरूप—पाँच व्याख्यान—व्याख्यानदाता-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़। पृ० सं ११९, मूल्य दस रुपए।

पाँच व्याख्यानों के शीर्षक ये हैं—मध्यकाल और उसके आदर्श काव्य, महाकाव्य और अलंकृत प्रबंध, उद्देश्य और उपलब्धियाँ, रस का व्यावहारिक अर्थ और रस . कवियों का साक्ष्य।

योरोपीय इतिहास में मध्यकाल की सीमाएँ निश्चित की जा चुकी हैं। इतिहास, साहित्य, कला प्रत्येक के 'मध्यकाल' में कुछ अन्तर है किन्तु 'काल' की सीमाएँ सुनिश्चित तर्क देकर प्राय. निश्चित कर दी गई हैं। रोमन साम्राज्य के पतन तथा ईसाइयत की स्थापना के साथ योरोप में मध्यकाल का आरम माना जाता है। ईसाइयत के साथ-धर्म, राज्य, साहित्य, कला सभी क्षेत्रों में एक विशिष्ट चिंतन धारा के दर्शन होते हैं। इतालिया में मध्ययुग की सभ्यता की सर्वोत्तम उपज दान्ते, ज्योत्तो, सत फ्रांसिस हैं। प्राचीन और आधुनिक सभ्यता के बीच के काल को 'मध्यकाल' कहना स्वाभाविक है। हमारे देश के इतिहास के अध्ययन से अभी भारतीय इतिहास के मध्ययुग की सीमाएँ सुनिश्चित नहीं हो पाई हैं। यूरोपीय 'मेडीएवल एज' के आधार पर हमारे यहां भी मध्ययुग की कल्पना की गई है। आचार्य द्विवेदीजी ने मध्यकाल की सीमाएँ निश्चित करने के लिए कई आधारों का सुझाव दिया है। निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं कि आठवीं शती-से १८ वीं शताब्दी तक का काल मध्यकाल माना जा सकता है। आठवीं शती के पश्चात हमारे देश का 'सहृदय' उनके अनुसार 'रूढि का समर्थक हो गया'। द्विवेदी जी के मत से कोई सहमत भले न हो किन्तु जो तर्क उन्होंने प्रस्तुत किए हैं वे पर्याप्त प्रसिद्ध और समर्थित हैं। विन्टरनित्स ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास में इन तथ्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। जहां तक भारतीय साहित्य का प्रश्न है ऐसा प्रतीत होता है कि तथाकथित मध्ययुगीन साहित्य में—भले ही वह किसी भी भाषा में रचा गया हो, प्राचीन साहित्य की परिपाटियों का अनुकरण, अनुसरण या नवीनीकरण मिलता है। अतः प्राचीन और आधुनिक दो युगों का स्वरूप तो बहुत कुछ स्पष्ट दिखता है, बीच के युग के स्वरूप की रूपरेखा स्पष्ट करने के लिए अभी सभी उपलब्ध सामग्री के और अध्ययन की आवश्यकता है।

योरोपीय इतिहास के मध्ययुग की कल्पना आधुनिक युग के विद्वानों ने की है। योरोपीय मध्ययुग को, यह सर्वविदित है, कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया। योरोपीय विद्वानों ने ही भारतीय इतिहास में मध्ययुग की कल्पना की और योरोपीय मध्ययुग के समान भारतीय मध्ययुग को भी अपेक्षाकृत हेय समझा। आचार्य द्विवेदी जी के इस वक्तव्य में योरोपीय विद्वानों के इसी मत की झलक मिलती है—'सवत्र ईसवी की ८वीं शताब्दी तक के बने हुए ग्रन्थों को आदर्श और व्याख्येय माना गया है। परवर्तीकाल में भी इन विषयों की जो पुस्तकें लिखी गयी हैं, उनमें नया कुछ कहने का दावा बहुत कम है।......अत. साहित्य में जिस स्तब्ध और जकड़ी हुई मनोवृत्ति का आभास मिलता है, वहीं अन्यान्य चिन्तन-क्षेत्रों में भी उपलब्ध होती है।' यह कैसी दुःख की बात होगी कि उपर्युक्त मन्तव्य के अनुसार शंकर

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे श्रेष्ठ चिंतक तथा कबीर, सूर, तुलसी जैसे कवियों को 'जकड़ी हुई मनोवृत्ति' से ग्रसित कहा जाय। किन्तु जिस प्रकार प्रत्येक युग में कुछ प्रतिभाएँ अपवाद के रूप में उदित होती हैं उसी प्रकार ये प्रतिभाएँ भी अपवाद ही कही जावेंगी। प्रथम व्याख्यान में इन मंतव्यों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत की मनोरम व्याख्या करते हुए बताया है कि किस प्रकार भारतीय साहित्य को इन कृतियों ने प्रभावित किया है।

दूसरे व्याख्यान में संस्कृत के महाकाव्यों, बृहत्कथा और गाथासप्तशती तथा प्राकृत काव्यों का विश्लेषण किया गया है। तीसरे व्याख्यान के उपशीर्षक इस प्रकार हैं—मुक्तक—काव्य की पुरानी परंपरा, अलंकृत काव्य, सुभाषितों के आधार पर सुकवि के गुण, क्या कवि रस वेत्ता नहीं होता, काव्य सर्जना का आनंद, सहृदय दुर्लभ है, काव्य शिक्षा पर बल, कीर्ति लालसा, कवि का वर्ण्य विषय मुक्तक काव्य में कवि का नैपुण्य, काव्यशिक्षा पर बल देने का परिणाम, राजसभा, काव्यपाठ का महत्त्व, काव्यकला, आशुकवित्व और प्रत्युत्पन्नमतित्व पाणिनीय व्याकरण की महिमा, निरकुश भाव। चौथे व्याख्यान में अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि शास्त्रीय विचार के समय, रसों की संख्या आठ या नौ बताई गई है, पर व्यवहार में रस का अर्थ शृंगार ही था। अन्तिम व्याख्यान में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि 'बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कवि शृंगार रस को सर्वश्रेष्ठ और कभी कभी एक मात्र रस मान चुके थे।' हिन्दी काव्य को इन व्याख्यानों में कहीं चर्चा नहीं की गई है। रोचक तथा सरस कथन शैली ने गूढ़ शास्त्रीय विषय को भी आकर्षक बना दिया है। 'आधुनिकता बोध' तक पहुचने के लिए प्राचीन साहित्य के बोध का स्वरूप जानना आवश्यक है। विषय और विवेचन दोनों ही दृष्टि से इस महत्त्वपूर्ण कृति के प्रकाशन के लिए पंजाब विश्वविद्यालय की प्रशंसा की जानी चाहिए।

—रामसिंह तोमर

मल्लिकजी का महाप्रयाण

श्रद्धेय गुरुदयाल मल्लिकजी जिस विशाल मानव-परिवार के अन्यतम सदस्य थे, उसके लिये इस समाचार को ग्रहण करना सहज न था कि अप्रैल की १४ वीं तारीख को उन्होंने सदा के लिये इस संसार से अपनी आँखें मूंद ली हैं। शान्तिनिकेतन के साथ उनका सम्बन्ध दीर्घकालव्यापी था, किन्तु उसकी गहराई अतलस्पर्शी थी। सच तो यह है कि शान्तिनिकेतन के साथ उनके योग का आरम्भ न उस दिन शुरू हुआ जिस दिन उन्होंने यहाँ के आश्रम-गुरु के प्रत्यक्ष दर्शन किए, और न उस दिन समाप्त हुआ जिस दिन उन्होंने यहाँ के कर्म-जीवन से अवकाश ग्रहण करके विश्वभारती से अन्तिम विदा ली। वे यहाँ की धरती और आकाश, वृक्षराजि और वातास के साथ कुछ इस तरह घुले-मिले थे कि इस स्थान के साथ उनके सम्बन्ध-विच्छेद की बात कल्पना में भी नहीं आती थी।

"ऐतिहासिक" मल्लिकजी का परिचय बहुत कम लोगों को ही मालूम है। उनका जन्म पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में हुआ था, जिसके आधार पर वे अपने को पठान कहा करते थे। बचपन कटा था सिन्ध में और शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई थी बम्बई में। जीवन का अधिकांश साबरमती, सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन के बीच व्यतीत हुआ था। जीवन के अन्तिम तीस वर्ष स्थायी रूप से किसी एक स्थान में नहीं बीते। वस्तुतः मल्लिकजी पूरे अर्थों में अनिकेत व्यक्ति थे, फिर यह और बात है कि जाने—कितने परिचित-अपरिचित व्यक्तियों के हृदयों में उन्होंने अपना स्थायी आवास बना लिया था—ऐसा आवास जो उनके जीवन-मरण की बाहरी घटना के द्वारा नियन्त्रित अथवा निरूपित नहीं।

मल्लिकजी विश्वभारती में अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक थे। इस भाषा के गद्य और पद्य पर तो उनका असामान्य अधिकार था ही, किन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती और बंगला भाषाओं में उनका प्रवेश कम असामान्य नहीं कहा जायगा। अंग्रेज़ी में उनके गीति-काव्य का संकलन "हाउण्ड ऑव् द हार्ट" नाम से प्रकाशित हुआ था। 'द डिवाइन ट्रैवेलर्स इन् द डेज़र्ट" में सूफ़ी साधना और साधकों का प्रामाणिक परिचय है। "गान्धी एण्ड् टैगोर" की मूल रचनाएं गुजराती में "गान्धी गुरु" नाम से प्रकाशित हुई थीं, जिनका हिन्दी रूपान्तर "गान्धीजी और गुरुदेव" के रूप में पाठकों के निकट सुपरिचित है। प्रेमचन्द की चुनी हुई कहानियों का उनका अंग्रेज़ी अनुवाद अंग्रेज़ी से अन्य देशी-विदेशी भाषाओं में रूपान्तरित हुआ था। हिन्दी में उनके निबन्धों और गीति-कविताओं का संचयन "दिल की बात" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, जिसे पाठकों का हृदयहार बनते देर न लगी। इस पुस्तक की भूमिका-स्वरूप मल्लिकजी के दो शब्द उनके व्यक्तित्व और विश्वास का अच्छा परिचय देते हैं। वे लिखते हैं: दिल की बात दिल से सुन लीजिए।

यही मिलती है। दिमाग को दलील करने की भला क्या ज़रूरत ?" नाना विषयों पर लिखी हुई ये रम्य रचनाएं विषय-प्रधान नहीं, विषयि-प्रधान हैं। उन विषयों से अधिक हम इनमें उनके रचयिता के उस व्यक्तित्व के दर्शन पाते हैं जो अपनी सहृदयता, सरसता, उच्चाशयता और गम्भीरता में अनन्यसाधारण, अनोखा और अद्वितीय है। उनके विचारों से हम भले ही यत्र-तत्र पूर्णतया सहमत न हों अथवा उनके निदान और विश्लेषण से हमारा मत न मिले, तथापि उनकी शुभ बुद्धि और लक्ष्य की उदात्तता से इनकार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि मल्लिकजी की प्रेरणा का स्रोत मनुष्य की उस विशेषता में है जिसके परिणाम-स्वरूप वह मानव कहलाने का अधिकारी है।

इसीलिये उनकी रचनाओं की शैली कोई ऊपरी सजावट की वस्तु नहीं, अनुभूति का स्वाभाविक आलोक है। उनकी अनोखी सूझ के दृष्टान्त उनकी रचनाओं में सर्वत्र बिखरे मिलेंगे। उनके अनुसार "समाज शब्द का अर्थ है सम + आज, अर्थात् जिस दिन समाज अपने हर सदस्य से कह सकेगा, तुम सब आज से समान हो, उसी दिन से समाज में प्रीति, नीति और शान्ति का उद्‌भव होगा।" गान्धीजी और गुरुदेव की तुलना वे बड़े ही आकर्षक ढग से करते हैं। उन्हींके शब्दों में · "गान्धीजी सुनहली जिल्द में बधी हुई भगवद्‌गीता थे तो गुरुदेव उपनिषदों की सचित्र आवृत्ति। गान्धीजी यह मानते थे कि व्यक्तिगत समस्या जगत् की समस्या है। गुरुदेव मानते थे कि जगत् की जो समस्या है वही व्यक्तिगत समस्या है। पर दोनों जानते थे कि जीवन एक सीधी लकीर नहीं, एक वर्तुल है।"

मल्लिकजी के व्यक्तित्व के निर्मायक तत्त्वों को गिनाना सहज नहीं। उन्होंने गृहस्थी नहीं की पर उनका चित्त किसी भी गृही से कम ममतामय न था। वे साधु थे, किन्तु सन्यासी नहीं, तपस्वी थे किन्तु वैरागी नहीं। उनके हिन्दी में लिखे भजनों में सन्त-बानी का स्वर है। काव्य के छन्द की अपेक्षा उनमें हृदय की अनुभूति का एक निराला ही छन्द है जो उनके उदात्त कण्ठ स्वर से ध्वनित होकर सुननेवालों के अन्तर में बरबस प्रतिध्वनित हुआ करता था। मल्लिकजी को ज्ञानी बनने के लिये भक्ति से मुह नहीं मोड़ना पड़ता था, न भक्ति के रसास्वादन के लिये ज्ञान से ही नाता तोड़ना पड़ता था। "सूफियों की सगत" उनके एक निबन्ध का शीर्षक है और वह उनके जीवन-दर्शन के एक विशेष पहलू का परिचायक भी। बापू और गुरुदेव के बीच वे केवल एक दूत का ही कार्य नहीं करते थे, अपने जीवन में वे उस अदृश्य योग-सूत्र को प्रतिफलित किए हुए थे जो युग के इन दोनों ही महा-मानवों को प्रीति के बन्धन में बांधे हुए था। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के साथ मल्लिकजी ने जलियांवालाबाग के ज्वलन्त

दिनों में पंजाब में स्मरणीय सेवा-कार्य किया था। सभी मानव-विभूतियों के प्रति मल्लिकजी का हृदय सहज ही श्रद्धा से नत हो जाता था, कारण अनेक के भीतर एक के दर्शन करना उन्हें भाता था—अनेकता को भुलाकर नहीं, उसे एकता का प्रकाश मानकर। विनय उनके चरित्र का भूषण नहीं, स्वभाव का सहज परिणाम थी।

एकबार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखा था : "दूसरों के दुःख से दुःखित और विचलित होने के सिवाय मल्लिकजी का कोई अपना दुःख नहीं है।" जब वे तरुण थे और जब उनके दीप्त मुख पर उनके परवर्ती काल की अनिवार्य शुभ्र दाढ़ी अवतीर्ण नहीं हुई थी, तब वे शान्तिनिकेतन में टेनिस के एक जबर्दस्त खिलाड़ी की हैसियत से सुपरिचित थे। किसी दुर्घटना ने उनका बाहरी खेलकूद बन्द कर दिया, पर उनके अन्तर में जो आमोदी और विनोदी खिलाड़ी सदा निवास करता था, वह मानो इस बाहरी प्रतिबन्ध से और भी सक्रिय हो उठा। आजीवन वे अपनी देह के बड़े-बड़े स्थायी रोगों के साथ खिलाड़ी के समान ही हंसते-खेलते जूझते रहे। शान्तिनिकेतन के अन्तेवासियों के सुख-दुःख के साथ वे एकात्म थे। द्विवेदीजी के ही शब्दों में "वहां किसका बच्चा बीमार है, किसकी लड़की की शादी रुकी हुई है, किसकी पढ़ाई खतरे में है, किसके घर का कर्ज चुकाना है, किस पति-पत्नी में झगड़ा हुआ है—सबकी मीमांसा मल्लिकजी को ही करनी पड़ती थी।' उनके परिहास में सबका हिस्सा था पर उनके व्यंग का लक्ष्य वे आप अकेले हो थे।

किन्तु जहां सिद्धान्तों का सवाल उठता था, वहां मल्लिकजी समझौता करना नहीं जानते थे। ऐसे अवसरों पर वे स्वभाव से कुसुम-जैसे मृदु होने पर भी वज्र से भी अधिक कठोर साबित होते थे। बहुत वर्षों तक अमरीका के क्वेकर-बन्धुओं का जबर्दस्त आमन्त्रण आने पर भी वे इसीलिये विदेश-यात्रा पर नहीं निकले कि इसके लिये उन्हें नियमानुसार टीका लगवाना होगा। जो बीमारी उन्हें निर्मम भाव से हम सबसे छीनकर ले गई, उसका नाम सम्भवतः कैन्सर था, पर अन्तिम क्षण तक उन्होंने कष्ट के लाघव के लिये भी होमियोपैथी-छोड़ अन्य कोई औषधि ग्रहण नहीं की। दुःख और दर्द को अपनी आत्मा की शक्ति के द्वारा अविचलित शान्ति में रूपान्तरित करके मल्लिकजी ने इहलोक से अन्तिम विदा ली।

ऐसे व्यक्ति के देहावसान पर शोक प्रकट करना मानों उसकी पुण्य-स्मृति के प्रति अन्याय करना है। प्रार्थना में मल्लिकजी का अगाध और अटूट विश्वास था, अतएव हम यही प्रार्थना करते हैं कि उनकी लोकान्तर-यात्रा ठीक वैसी ही हो जैसी वह हृदय से चाहते थे।

—मोहनलाल वाजपेयी

दीनबंधु एण्ड्रयूज जन्मशती विशेषांक

चार्ल्स फ्रियर एण्ड्रयूज (१८७१-१९४०) को महात्मा गांधी ने दीनबन्धु नाम दिया और यह नाम एण्ड्रयूज के कार्यों के इतने अनुरूप था कि वे इसी नाम से प्रसिद्ध हो गए। भारतीय स्वाधीनता के लिए उन्होंने आजन्म कार्य किया, प्रवासी भारतीयों की दशा सुधारने, उन्हें उनके अधिकार दिलाने के लिए एण्ड्रयूज ने अनेकबार उन सुदूर देशों की यात्रा की, जहाँ भारतीय श्रमिक अपमानजनक स्थिति में रह कर जीवन यापन कर रहे थे, और उनके हितों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार से संघर्ष किया। भारत भक्त एण्ड्रयूज इन कार्यों के लिए अंग्रेज शासकों को कोपभाजन बन गए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के बीच संपर्क स्थापित कराने का श्रेय भी एण्ड्रयूज को ही है। शान्तिनिकेतन तो उनका अपना घर जैसा ही था। सन् १९१४ से लेकर अंत तक प्रायः वे शान्तिनिकेतन में ही रहे। शान्तिनिकेतन के विद्यालय के, गुरुदेव की इच्छानुसार, वे वर्षों एक प्रकार से व्यवस्थापक रहे, अध्यापन कार्य भी वे करते थे। शान्तिनिकेतन के हिन्दीभवन की नींव सन् १९३६ में उन्होंने ही रखी थी। इस विशेषांक में दीनबन्धु एण्ड्रयूज के जीवन और कार्यों का प्रामाणिक विवरण रहेगा। अनेक चित्र भी रहेंगे। पत्रिका के खण्ड ११ के अंक चार के रूप में यह विशेषांक निकलेगा। लगभग दो सौ पृष्ठों का यह अंक पत्रिका के ग्राहकों को पत्रिका के मूल्य में ही प्राप्त होगा। स्वतंत्र रूप से इसका मूल्य १२) रु० होगा।

रामसिंह तोमर

विश्वभारती पत्रिका के खण्ड ४ से १० तक के अंक उपलब्ध हैं।

प्रत्येक खण्ड का मूल्य ६) रु० है।

गांधी जन्मशती-विशेषांक की भी कुछ प्रतियां उपलब्ध हैं। इस विशेषांक में महात्माजी की शान्तिनिकेतन यात्राओं का पूरा विवरण तथा अनेक महत्त्वपूर्ण लेख और चित्र हैं।

अंक का मूल्य १२) रु० है।